"स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से योगदर्शन का एक अध्ययन"



Forwarded
HEAD
Deptt. of Basic Principles,
Instt. of Medical Sciences,
Banaras Hindu University.

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि के निमित्त प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

द्वारा
राम व्यास सिंह



निर्देशक
डॉ0 इन्द्र प्रताप सिंह
(ए०बी०एम०एस०, डी०ए०वाई०एम०, पी-एच०डी०)
विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त विभाग
अनुभाग प्रमुख

स्वस्थवृत्त एवं योग अनुभाग
मौलिक सिद्धान्त विभाग
आयुर्वेद संकाय
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी--221005

वर्ष 1999

पंजीयन संख्या–186271

Grams : MEDINSTUTE
Telex : 0545-304 BHU IN

Phone : Office : 316068
316801-5/2320 EPABX
Fax : 0542-316068



स्वस्थवृत्त एवं योग अनुभाग
मौलिक सिद्धान्त विभाग
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

प्रमाण पत्र

यह प्रमाणित करते हुए प्रसन्नता की अनुभूति होती है, कि श्री राम व्यास सिंह, शोध छात्र, दर्शनशास्त्र, स्वस्थवृत्त एवं योग अनुभाग, मौलिक सिद्धान्त विभाग, ने मेरे निर्देशन में 'स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से योगदर्शन का एक अध्ययन' नामक पी-एच०डी० शोध-प्रबन्ध को विश्वविद्यालय अनुसंधान अधिनियम 3.1 के अन्तर्गत निर्धारित अवधि में कार्य करते हुए पूर्ण किया है। उक्त शोध-प्रबन्ध इनके द्वारा किये गए गम्भीर स्वाध्याय एवं सूक्ष्म विश्लेषण का परिणाम है।

मै श्री सिंह द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को अग्रसारित कर परीक्षक विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत किये जाने की अभिशंसा करता हूँ।

अग्रसारित
I.P. Singh
HEAD
D... f Basic Principles,
I... d.... Sciences,
Ba... Hindu University.

पर्यवेक्षक
I.P. Singh
(डॉ० आई०पी० सिंह)
मौलिक सिद्धान्त विभाग
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी– २२१ ००५

नमन

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।

(योग वार्तिक विज्ञान भिक्षु)

मैं उन मुनियों में श्रेष्ठ पतञ्जलि को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ, जिन्होंनें योग से अन्तःकरण के, पद से वाणी के और वैद्यक से शरीर के मल को दूर किया है।



कृतज्ञता-ज्ञापन

भगवान् विश्वनाथ की असीम अनुकम्पा से मेरा शोध-प्रबन्ध *'स्वास्थ रक्षा की दृष्टि से योगदर्शन का एक अध्ययन'* पूर्ण होने के शुभ अवसर पर मैं उन समस्त गुरुजनों, विद्वानों तथा सहयोगी मित्रों का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ जिनका सहयोग एवं स्नेह प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से इस प्रयास में उपादेय सिद्ध हुआ है। इस कृतज्ञता-ज्ञापन की श्रृंखला में सर्वप्रथम मैं परमश्रद्धेय पूज्यगुरुवर डॉ0 इन्द्र प्रताप सिंह जी, विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, वाराणसी के श्री चरणों में साश्रद्ध हार्दिक चरण वन्दना एवं कृतज्ञता-ज्ञापित करता हूँ जिनके स्नेह, आशीर्वाद, शिक्षा के प्रति सतत् उत्साहवर्द्धन एवं कुशल निर्देशन से मेरा मार्गदर्शन होता रहा है, आपने मुझे सर्वदा सरल स्पष्ट दिशा प्रदान कर इस शोध कार्य को सरल बनाया है।

विभाग के अन्य अध्यापक प्रो0 जी0पी0 दूबे, प्रो0 ज्योर्तिमित्र, (सेवा निवृत्त), डॉ0 ए0के0 सोनकर, डॉ0 उमा गुप्ता, डॉ0 अरूणा अग्रवाल, डॉ0 डी0बी0 चौबे (दर्शन एवं धर्म विभाग), आदि के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विभागीय सहपाठियों डॉ0 श्री श्याम जी शुक्ला, डॉ0 संदीप द्विवेदी, डॉ0 प्रतिवा सामल, श्रीमती सुनीता यादव, श्रीमती विनीता सिंह, श्रीमती रूकसाना बानो, डॉ0 कप्पू नाग प्रसूना, डॉ0 डब्ल्यू0एम0एस0एस0के0 कुलतुंगा (श्रीलंका), डॉ0 सुनीता पाण्डेय, डॉ0 ए0के0 त्रिपाठी आदि के प्रति आभार प्रकट करता हूँ तथा मै विशेषरूप से डॉ0 सुरेश चन्द्र जोशी जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी सतत् प्रेरणा एवं सहयोग मेरे इस शोध कार्य में सहायक सिद्ध हुआ।

इस सन्दर्भ की अगली कड़ी में मैं अपने परिवार के लोगों का स्मरण करना अपना परम् पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। एतदर्थ सर्वप्रथम मैं परम् पूज्य पिता जी श्री लक्ष्मण सिंह एवं माता जी श्रीमती लखवन्ती देवी के चरणारविन्दों में कोटिशः नमन करता हूँ जिनकी करुणा, प्रेम, स्नेह एवं आशीर्वाद मेरे शरीर के रोम-रोम में व्याप्त है, धन्यवाद के लिए पर्याप्त शब्दों के अभाव में बारम्बार साश्रद्ध चरण वन्दना करते हुए यह शोध-प्रबन्ध उन्हीं के चरणों में सादर समर्पित करता हूँ। इस अवसर पर मैं अपनी दादी जी की चरण वन्दना करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनका वात्सल्यमय स्नेह एवं आशीर्वाद मुझे हमेशा प्राप्त होता रहा है। मैं अपने पितातुल्य चाचा श्री रामधनी सिंह (प्रधानाध्यापक) जी का आभारी हूँ जिन्होंने हर विषम परिस्थिति में भी मेरा आर्थिक रूप से सहयोग एवं उत्साहवर्द्धन किया। इसी क्रम में मैं अपने पूज्य चाचा जी डॉ0 गुलाब सिंह (स्टैटिटिक्स डायरेक्टर, योजना आयोग, नई दिल्ली), डॉ0 भगवान दास सिंह (वैज्ञानिक, बीरबल साहनी इन्स्टीच्यूट ऑफ पेलियोबाटनी, लखनऊ), डॉ0 गोपाल शंकर सिंह एवं श्री राजेश कुमार सिंह तथा मेरे अग्रज श्री राम दास सिंह, श्री राम पाल सिंह एवं अनुज श्री देवेन्द्र कुमार सिंह, शनि सिंह, राणा कुलदीप सिंह एवं दीदी-जीजाजी लोगों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मुझे इस शोध कार्य को पूरा करने के लिए मात्र प्रोत्साहित ही नहीं किया अपितु सम्पूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

मैं अपने शुभ चिन्तको में श्री महिपाल सिंह, डॉ0 मंशा सिंह, श्री श्रीभागवत सिंह, श्री रमेश कुमार सिंह, श्री रामआसरे सिंह, श्री कमलेश्वर सिंह, श्री प्रेम सागर सिंह, श्री विरेन्द्र कुमार सिंह, श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह, श्री प्रमोद कुमार सिंह, श्री राकेश कुमार सिंह, श्री धीरेन्द्र प्रताप सिंह, डॉ0 वृजेश कुमार दूबे, श्री सुनील कुमार यादव, श्री प्रतीमा नन्द पाण्डेय, श्री बालेश्वर सिंह, श्री रविन्द्र कुमार यादव, डॉ0 सतनाम

सिंह, श्री मस्तलाल, रजनीश एवं मनीष आदि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सत्य परामर्शो, विचारों एवं सहयोग से शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में सहायता मिली।

- विभागीय के सहयोगियों डॉ0 गिरीश सिंह, डॉ0 गोपालदास तथा कर्मचारियों में श्री धर्मू यादव, श्री सुभाष प्रसाद एवं श्री रामदास आदि के प्रति भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने यथा समय यथावश्यक मेरी सहायता की है।

विश्वविद्यालय के प्रधान ग्रन्थागार एवं चिकित्सा विज्ञान संस्थान के पुस्तकालयाध्यक्षों एवं सदस्यों के प्रति भी मैं आभारी हूँ जो समय-समय पर शोध सामग्री से सम्बन्धित विषयवस्तु एवं पुस्तकों की सुलभता में सहायक सिद्ध हुए।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टंकण कार्य हेतु मैं श्री सन्तोष कुमार, महामना कम्प्यूटर सेंटर, भोगाबीर, लंका, वाराणसी के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने पूरी तन्मयता के साथ अल्पावधि में ही टंकण कार्य सम्पन्न, कर महत्वपूर्ण सहयोग किया है।

पुनश्च प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जिन गुरुजनों, शुभ-चिन्तकों एवं मित्रों से सहयोग एवं सहायता मिली है परन्तु जिनका नामोल्लेख यहाँ पर नहीं कर सका हूँ उन सभी के प्रति मैं कृतज्ञता एवं धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। अन्ततः मै माँ सरस्वती की कृपा के सम्मुख नतमस्तक हूँ जिनकी विशिष्ट अनुकम्पा से यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका।

राम व्यास सिंह

दिनांक : 30/8/1999

(राम व्यास सिंह)

विषय-सूची

*****

संकेत सूची

अथ0	:	अथर्ववेद
अ0हृ0सू0	:	अष्टांग हृदय सूत्र स्थान
अ0सं0	:	अष्टांग संग्रह
अ0स0सू	:	अष्टांग संग्रह, सूत्र स्थान
च0इ0	:	चरक संहिता, इन्द्रिय स्थान
च0सू0	:	चरक संहिता, सूत्र स्थान
च0नि0	:	चरक संहिता, निदान स्थान
च0शा0	:	चरक संहिता, शारीर स्थान
च0चि0	:	चरक संहिता, चिकित्सा स्थान
च0क0	:	चरक संहिता, कल्प स्थान
च0वि0	:	चरक संहिता, विमान स्थान
छा0उ0	:	छान्दोग्य उपनिषद्
पा0र0	:	पातंजल रहस्य
वृ0उप0	:	वृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र0सू0	:	ब्रह्म सूत्र
म0स्मृ0	:	मनु स्मृति
यो0प्र0	:	योग प्रदीपिका
यो0वा0	:	योग वार्तिक
यो0सा0सं0	:	योग सार संग्रह
यो0सू0	:	योग सूत्र
व्या0भा0	:	व्यास भाष्य

श0ब्रा0	:	शतपथ ब्राह्मण
स0द0स0	:	सर्व दर्शन संग्रह
सां0का0	:	सांख्यकारिका
सां0सू0	:	सांख्य सूत्र
सु0उ0	:	सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र
घे0सं0	:	घेरण्ड संहिता
ऋ0	:	ऋग्वेद
याज्ञ0स्मृ0	:	याज्ञवल्क्य स्मृति
तैत्ति0उप0	:	तैत्तिरीय उपनिषद
ह0यो0प्र0	:	हठ योग प्रदीपिका
शि0सं0	:	शिव संहिता
सु0सू0	:	सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान
सु0चि0	:	सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान
यो0र0	:	योग रत्नाकर
भा0प्र0	:	भाव प्रकाश
क्षे0कु0	:	क्षेम कुतूहल
शा0सं0पू0ख0	:	शार्ङ्ग.धर संहिता, पूर्व खण्ड
भै0र0	:	भैषज्य रत्नावली
सु0शा0	:	सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान

*****

प्रस्तावना

प्रधानतः भारतीय दर्शन का सार एवं मूल जीवन दृष्टि योग है। योग संस्कृत के 'युज्' धातु से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य दो वस्तुओं का एक हो जाना है। योगदर्शन में इस एकीकरण को जीवात्मा एवं परम आत्मा के सम्मिलन, एक दूसरे में विलय की अवस्था के रूप में परिभाषित किया गया है। मनुष्य के व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के एकीकरण की प्रक्रियाएँ भी 'योग' के अन्तर्गत स्वतः समाहित हो जाती है। इस प्रकार मानव जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही धरातलों पर 'योग' का स्वरूप अत्यन्त व्यापक परिलक्षित होता है परन्तु इसकी मौलिक अवधारणा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से योग विज्ञान का विकास प्राचीन उपनिषद्, भगवद्गीता एवं महर्षि पतंजलिकृत 'योगसूत्र' से आरम्भ होकर अनन्तरकाल में हिन्दू, जैन, बौद्ध, सूफी तथा सिक्ख आदि धर्मों के द्वारा अनेक आयामों में विकसित होता हुआ आधुनिक युग में समाजमूलक, वैज्ञानिक स्वरूप को प्राप्त हुआ है और आज, जीवन की जटिलताओं को सरल करने की दिशा में योग पर आधारित अनेक वैज्ञानिक शोध भी आरम्भ हो चुके है।

वस्तुतः बढ़ती हुई आधुनिकता तथा औद्योगिकीकरण ने जहाँ एक तरफ संसार में अभूतपूर्व वैभव तथा भौतिक सुखों का अम्बार लगा दिया है, वहीं उसने मानव जीवन में अशान्ति एवं मानसिक तनाव उत्पन्न कर विविध आधिव्याधियों की श्रृंखला

भी खड़ी कर दी है। अमेरिका सदृश पश्चिमी वैभवशाली देशों में यह समस्या इतने वृहत् स्वरूप में सामने आयी है कि असंख्य लोग भौतिक सुख को त्याग कर मानसिक शान्ति की खोज में प्राचीन जीवन मूल्यों की ओर उन्मुख हो- 'योग' की ओर आकृष्ट हुए हैं।

चूँकि मानसिक अशान्ति से उत्पन्न समस्याओं के समाधान में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान असफल रहा है अत: बड़ी संख्या में लोग योग में रूचि लेने लगे हैं और आजकल निम्नलिखित दृष्टिकोण से योग में रूचि ली जा रही है।

1. मानसिक तनाव दूर करने हेतु।

2. शारीरिक एवं मानसिक रोगों से बचाव के लिए।

3. मनोदैहिक विकारों की चिकित्सा हेतु।

4. विभिन्न योगासनों द्वारा शरीर-सौष्ठव परिवर्धन एवं

5. आत्मिक उन्नयन व आध्यात्मिक विकास के दृष्टिकोण से।

इस प्रकार योग एक स्वास्थ्यकारक तथा चिकित्सा विज्ञान के रूप में उपयोग करने का वातावरण है। इसलिए योग पर होने वाले अधिकांश वैज्ञानिक शोध कार्यो का उद्देश्य भी योगाभ्यास के शरीर क्रियात्मक तथा चिकित्सकीय प्रभावों का आकलन करना है।

योग साधना की वैज्ञानिक शोध परम्परा का आरम्भ पिछले दो दशकों से ही हुआ है। इसके अन्तर्गत कुछ भारतीय हठयोगियों तथा तान्त्रिकों पर अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया और उनकी तांत्रिक एवं हठयौगिक प्राप्तियों को वैज्ञानिक आधार पर शरीर क्रियात्मक दृष्टिकोण से समझने की कोशिश की गई। इसके

अतिरिक्त- सामान्य व्यक्तियों पर यौगिक क्रियाओं के प्रभाव का अध्ययन भी किया गया है।

प्रस्तुत विवेचन में योग द्वारा रोगों की चिकित्सा- जो कि योग विज्ञान का एक विवादास्पद पक्ष है, के विषय में मौन रहना उपयुक्त नहीं होगा। योग के अनेक ज्ञाता तथा योग के विकास में रूचि रखने वाले अनेक विद्वान इस मत के है कि योग साधना का मुख्य उद्देश्य मन की शान्ति, परम आनन्द तथा मोक्ष प्राप्त करना है न कि व्याधि की चिकित्सा, दूसरी तरफ आधुनिक विचारधारा के अनेक विद्वान इसकी चिकित्सकीय उपयोगिता के स्वरूप का सामाजिक प्रयोग करना चाहते है। निःसंदेह, योग साधना के चित्तशुद्धिकारक प्रभाव से सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व में सुधार ला कर मनुष्य को रोगों के कुप्रभाव से बचाया जा सकता है अर्थात् 'योग' रोगों के रोकथाम का उपाय हो सकता है, परन्तु सभी रोगों की चिकित्सा का मार्ग समझना सम्भवतः उपयुक्त नहीं।

विभिन्न वर्ग के लोगों द्वारा विचार प्रस्तुत करने के कारण योग का आधुनिक स्वरूप बहुत व्यापक हो गया है। पिछले कुछ वर्षो में योग अपने मात्र भारतीय स्वरूप से हटकर अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की ओर, व्यक्तिगत साधना मात्र से हटकर व्यापक समाज परक उपयोगिता की ओर तथा आध्यात्मिकता से हटकर वैज्ञानिकता की ओर अग्रसर होता रहा है। यदि हम योग साधना की मौलिक परम्परा पर दृष्टिपात करें तो प्रथमतः महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग की ओर ध्यान जाता है। अष्टांग योग के अन्तर्गत- (1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान, (8) समाधि-आठ क्रमिक अंग समाविष्ट किए गए है। इन अष्टांगों में प्रथम दो- (1) यम, (2) नियम- प्रधानतः

आचार सम्बन्धी अभ्यास है। इसके बाद के- (3) आसन, (4) प्राणायाम- शरीर को भौतिक रूप से योगाभ्यास योग्य बनाने के उपाय हैं। पंचम उपादान पर स्थित- (5) प्रत्याहार- प्रधानतः इन्द्रिय निग्रह का उपाय है और इसके बाद की प्रक्रियाएँ (6) धारणा, (7) ध्यान (8) समाधि- पूर्णरूपेण मानसिक तथा आध्यात्मिक नियम की साधनाएँ हैं।

महर्षि पतंजलि ने, यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरंग योग, एवं धारणा, ध्यान, समाधि को अन्तरंग योग कहा है।

स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से योगदर्शन का एक अध्ययन- इस शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न प्राचीन अर्वाचीन चिकित्साशास्त्रों एवं भारतीय वाङ्.मय में निबद्ध दार्शनिक सामग्री एवं उसकी दैनिक जीवन की प्राथिमिकी स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से, उपयोगिता का आकलन किया गया है और साथ ही साथ आधुनिक सामाजिक परिवेश में प्राचीन दर्शन मूल्यों की महत्ता का पूनर्मूल्यांकन इस शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य है।

शोध कार्य की योजना मुख्यतया निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत की गई है-

प्रथम अध्याय : इस अध्याय में योग शब्द की व्युत्पत्ति के साथ योगदर्शन के स्वरूप तथा इसके साहित्य की विवेचना की गई है।

द्वितीय अध्याय : इस अध्याय में हठयोग के विभिन्न आसन, मुद्रा, बन्ध, षट्कर्म आदि का तथा उनसे स्वास्थ्य पर होने वाले लाभ का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय : इस अध्याय में स्वास्थ्य रक्षा में योगदर्शन की उपयोगिता तथा अष्टांग योग के स्वरूप की विवेचना की गई है।

चतुर्थ अध्याय : इस अध्याय में आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त का स्वरूप तथा इसके अन्तर्गत दिनचर्या, रात्रिचर्या, धारणीय-अधारणीय वेग, सद्‌वृत्त, रसायन, वाजीकरण, पंचकर्म तथा आयुर्वेदोपदिष्ट योग का वर्णन तथा योगदर्शन के सिद्धान्तों से इनकी समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि में मूल मानस बीज यह भी है कि यद्यपि योग भारतीय दर्शन संस्कृति एवं समाज परम्परा का अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण अंग है परन्तु आज के परिवेश में यह समझना कठिन हो गया है कि योग क्या है, इसका उद्देश्य क्या है और इसके भावी विकास की रूपरेखा क्या होनी चाहिए। किसी भी प्राचीन विज्ञान के पुनर्निर्माण तथा उसकी भावी दिशा निर्धारण की रूपरेखा तैयार करने के पूर्व यह स्पष्ट रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है कि उस विज्ञान का प्राचीन मौलिक रूप क्या था और उस समय उसकी उपयोगिता एवं उद्देश्य क्या थे। इन विषयों के समुचित ज्ञान के बिना यदि इनके विकास की भावी नीति अपनायी गई तो आशातीत सफलता और विषय के पुनर्निर्माण के सफलता-मृगमरीचिका ही बन बैठेगी। अतः प्रस्तुत शोध कार्य इन्हीं बिन्दुओं पर आधारित एक प्रयास है।

*****

प्रथम अध्याय

योग शब्द की व्युत्पत्ति, योगदर्शन का स्वरूप तथा योगसाहित्य की विवेचना

योग शब्द की व्युत्पत्ति, स्वरूप एवं योगसाहित्य की विवेचना

'योग' वस्तुतः चार पुरूषार्थो में से अन्तिम एवं सर्वोच्च अवस्था की सिद्धि का प्रमुख साधन है इसके अन्तर्गत विविध आचार, ध्यान, तपस्यादि समाविष्ट हैं तथा सभी का लक्ष्य आत्मविकास पूर्वक उच्चतम अवस्था की प्राप्ति है। यह भारतीय धर्म, संस्कृति एवं दर्शन का अमूल्य रत्न है। इससे सम्बद्ध विद्या, योगशास्त्र या योगविद्या के नाम से प्रख्यात है। अतिप्राचीन भारतीय साहित्य वेद, पुराण, धर्म, दर्शन, इतिहास आदि के परीक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि योग की परंपरा अत्यधिक प्राचीन है।

ऋग्वेद के मंत्रों में योग शब्द का प्रथम व्यवहार दिखता है।[1,2,3]

प्राचीन भारतीय चिन्तक एवं दार्शनिक तत्व ज्ञान के उपरान्त तत्त्वानुभूति के लिए तत्पर रहते थे। वे केवल तत्व ज्ञान मात्र से सन्तुष्ट नहीं रहते थे फलतः तत्त्वानुभूति के साधन के रूप में योग विज्ञान का विकास हुआ और आगे चलकर अष्टांगयोग के साधन मार्ग का आविर्भाव हुआ। तत्व ज्ञान तथा तत्त्वानुभूति आदि उन्नत भावों की प्राप्ति में सहायक होने से शरीर तथा मानसिक स्वस्थता हेतु भी योग की उत्पत्ति हुई। इसी श्रृंखला में हठयोग विकसित हुआ और यही विज्ञान, 'चेतना विज्ञान' के अतिरिक्त 'देह-मानस शास्त्र' भी बनता गया।

योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'युज' धातु से होती है, जिसका अर्थ है 'सम्मिलित होना', 'एक होना'। पाणिनी के 'गण पाठ' में तीन 'युज' धातु हैं। दिवादिगण के 'युज' धातु का अर्थ समाधि है। दूसरा 'युज' सदादिगण में है; जिसका अर्थ संयोग होता है तथा तीसरा 'युज' चुरादिगण में है, जिसका अर्थ मिलाप होता है। समाधि बोधक 'युज' धातु से ही यहाँ 'योग' शब्द का उद्भव माना गया है।

योग शास्त्र में विभिन्न प्रकार की विधियों, मार्गो तथा अभ्यासों का वर्णन है जिनके द्वारा साधक को अपने अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योग विज्ञान मनुष्य के अन्तस्तत्व का विज्ञान है, मानव चेतना के विकास की एक विधा है तथा मनुष्य की संभावनाओं का विज्ञान है। विशिष्ट प्रकार का यह विज्ञान जो पदार्थ, जीवन एवं चेतना को एक साथ लेकर चलता है तथा विज्ञान और अध्यात्म के मध्य सेतु का कार्य करता है।

औपनिषदिक परम्परा में योग एक उच्च अवस्था है, जिसमें पांचों ज्ञानेन्द्रियां तथा मन की वृत्तियां रूक जाती हैं और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। इस प्रकार इन्द्रिय नियंत्रण से ध्यान स्थिर हो जाता है।

पतंजलि के योग सूत्र के अनुसार योग चित्तवृत्ति निरोध की अवस्था है।[4] पतञ्जलि के योग का अर्थ 'चित्तवृत्ति निरोध' या 'संयमित मन-मस्तिष्क' है। शाब्दिक रूप से योग का अर्थ है जुड़ना, आत्मा और परमात्मा का एकीकरण या सीमित का असीमित से मिलना। योग बीज के अनुसार प्राण तथा अपान, या स्व के रज और रेतस, या सूर्य तथा चन्द्रमा, या जीवात्मा और परमात्मा आदि विरूद्ध युग्मों के एकीकरण को योग कहते है। व्यावहारिक दृष्टि से योग शारीरिक, मानसिक

तथा आध्यात्मिक विकास का क्रम है। योग का लक्ष्य शरीर को मानसिक शान्ति प्राप्त करने के लिए तैयार करना है, जो कि परब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

भागवद्गीता के अनुसार योग दुःख या वेदनाओं से मुक्त अवस्था है। योगाभ्यास से मन स्थिर हो जाता है और सत्य से विचलित नहीं होता। गीता के विभिन्न संदर्भो में योग की तीन प्रमुख परिभाषाएं बतायी गयी है।[5,6,7] भारतीय परम्परा में योग शब्द के विभिन्न अर्थ हैं जैसे- 1. चिकित्सा शास्त्र में विभिन्न प्रकार की औषधियों का योग, 2. ज्योतिष में विभिन्न प्रकार के ग्रहों तथा नक्षत्रों का योग, 3. कार्य में प्रवीणता आदि।

योग अपने मूल रूप में मुख्यतः तत्वानुभूति, मनोनिर्वाण तथा स्थायी शान्ति एवं आनन्दानुभूति का उपाय है। आचार्यो ने ज्ञान तथा ज्ञान की अनुभूति जिसे 'विज्ञान' कहा गया है, में सर्वथा भेद किया है। श्री शंकराचार्य ने स्वयं 'ज्ञान' एवं 'विज्ञान' में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'ज्ञान' का तात्पर्य है शस्त्रों से या आचार्यो से आत्मा आदि पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करना और 'विज्ञान' का अर्थ है उस ज्ञात पदार्थ का उसी रूप में स्वयं अनुभूति करना। इस प्रकार की अनुभूति सदा आनन्दमय मानी गयी है। ऋषियों ने इसी अनुभूति के लिए योग विज्ञान का आविष्कार किया था। श्री शंकराचार्य की भाषा में अनुभव युक्त ज्ञान ही विज्ञान है और वहीं योगं है।[8] भारतीय परम्परा का लक्ष्य केवल ज्ञान प्राप्ति नहीं अपितु विज्ञान प्राप्ति है। गीता में विज्ञान सहित गुह्यतम ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है।[9] शास्त्रों में तत्वानुभूति की प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के क्रम से आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति करने का उपदेश दिया गया है और योग के द्वारा आत्मदर्शन को परमधर्म माना गया है।[10] वेदान्त परम्परा में योग

को स्वानुभूति का प्रमुख साधन माना गया है।[11] योग शब्द का प्रयोग अलभ्य लाभ या अप्राप्त की प्राप्ति के अर्थ में भी किया जाता है।[12] योग शब्द की घटक धातु अपने अनेक रूपों में संहिताओं में प्रयुक्त हुई है। योजन अर्थ वाली 'युजिर' धातु भी, जिससे योग शब्द बनता है, संहिताओं में बार-बार प्रयुक्त हुई है। व्याकरण की दृष्टि से संयोग या मेल अर्थ में योग शब्द की निष्पत्ति रूधादि गणी उभयपदी अनिट् योगार्थक धातु 'युजिर' से होती है।[13]

प्राण-अपान, रजस-रेतस, सूर्य-चन्द्र तथा आत्मा-परमात्मा आदि विपरीत युग्मों के संयोग को योग कहा गया है। सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मा एवं परमात्मा का संयोग ही योग है। वेदान्त में योग का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा का संयोग अर्थात् जीव तथा ब्रह्म की एकता या ब्रह्मात्मैकत्वानुभूति है। 'सोऽहम्' 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का संकेत उसी स्थिति की ओर है। एक अन्य सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य समाधि को ही योग कहते हैं। एकाग्रचित्त का ध्येय-पदार्थ से संयोग होने पर ही समाधि सिद्ध होती है। इस बात को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर योग को संयोगार्थक एवं समाध्यर्थक मानने में कोई विरोध नहीं प्रतीत होता।[14] समाध्यर्थक योग शब्द की निष्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से दिवादिगणी आत्मनेपदी अनिट् समाध्यर्थक धातु 'युज' से होती है।[15] पतञ्जलि द्वारा उद्घाटित चित्तवृत्ति निरोध रूप योग भी समाध्यर्थक ही है।[16] योगभाष्यकार व्यास ने योग का लक्षण समाधि बताते हुए दोनों को अभिन्न माना है परन्तु योग सूत्रकार ने समाधि को अष्टांग योगों में गिनाकर उसे योग का अंग या साधन माना है। श्री के0एन0 मिश्र के अनुसार 'योग' को अंगी या साध्य और समाधि को अंग या साधन कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि पातञ्जल योगशास्त्र

में भाव व्युत्पन्न रूप में प्रयुक्त 'योग' या समाधि को अंग या साधन मानकर दोनों शब्दों के समानार्थक होने का सिद्धान्त स्वीकार्य है। भाव व्युत्पन्न योग शब्द की निष्पत्ति समाध्यर्थक 'युज' धातु से 'योजनं योगः' इस विग्रह में 'भावे' से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करके होती है।

इसी प्रकार भाव व्युत्पन्न समाधि शब्द की निष्पत्ति 'सम' तथा 'आंङ्ग.' उपसर्ग पूर्वक धारणार्थक 'धा' धातु से 'समाधानं समाधिः' इस विग्रह में 'उपसर्गे घ्वोः किः' सूत्र से भाव अर्थ में 'कि' प्रत्यय करके होती है और कारण व्युत्पन्न समाधि शब्द की निष्पत्ति उपयुक्त धातु-प्रत्यादि से ही 'समीधीयते चित्तमनेन इति समाधि' इस विग्रह से उपर्युक्त विधि से ही होती है इस प्रकार योग और समाधि शब्द पर्यायवाची एवं समानार्थक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी तत्त्वविज्ञान या तत्त्वानुभूति की स्थिति को भी योग कहते थे और उसकी प्राप्ति के लिए जिस विधि या साधना-पद्धति का आश्रय लिया जाता था उसे भी योग कहा जाता था। व्याकरण की दृष्टि से भाव व्युत्पन्न योग शब्द को विज्ञान या अनुभव रूप साध्य तथा कारण व्युत्पन्न योग शब्द को उस अनुभव की साधक विधि या साधना पद्धति माना जा सकता है। इस प्रकार योग साधन तथा साध्य दोनों रूपों में प्रयुज्य है। महाभारत में अनेकशः योग शब्द का प्रयोग उपाय के रूप में हुआ है। श्रीकृष्ण ने मानव कल्याण हेतु ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों योगों अर्थात् उपायों का उपदेश किया है। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग पदों में योग शब्द का प्रयोग परम पुरूषार्थ की प्राप्ति के उपाय या मार्ग के अर्थ में हुआ है। गीता में आत्म विशुद्धि के उपाय के रूप में भी योग को स्वीकार किया गया है।[17] उपनिषदों में योग को

तत्त्व की अनुभूति या आत्मदर्शन का उपाय या साधन मानने के अनेक प्रसंग आते है।

कठोपनिषद् के अनुसार जिस स्थिति में मन के सहित पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से निवृत्त होकर आत्मनिष्ठ हो जाती है और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है वह परमगति की स्थिति है। 'स्थिर इन्द्रिय धारणा' की इस स्थिति को योग कहा गया है।

आधुनिक दृष्टि से भी योग का महत्व 1. स्वास्थ्य संवर्धन हेतु 2. योग द्वारा रोगों की चिकित्सा हेतु 3. योग द्वारा सिद्धि प्राप्त करने हेतु 4. योग द्वारा 'प्रज्ञा' प्राप्ति अर्थात् चेतना के विकास हेतु स्वीकार किया गया है। इन-इन दृष्टिकोणों से योग को 'विज्ञान' तथा 'तकनीक' के रूप में विकसित किया गया है। कठोपनिषद् में आने वाले 'अध्यात्म विद्या' तथा 'योग विधि' शब्द तथा इसी प्रकार भगवद्गीता में आने वाले 'ब्रह्मविद्या तथा 'योगशास्त्र' ये शब्द इस बात का संकेत करते हैं कि योग विज्ञान (विद्या) तथा तकनीक (विधि) अर्थात् Science and Technology दोनों ही हैं और इसका कार्य क्षेत्र देहमानस तथा चेतना है।

योग दर्शन का साहित्य :

आज यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति सूर्य की भांति अनेक अपरिचित, शक्तियों के तेज का पुंज है। व्यवहार में किसी भी वस्तु को परिपूर्ण स्वरूप में प्रस्तुत करने के लिए सर्वप्रथम दो बातों की आवश्यकता होती है ज्ञान और क्रिया। जिस प्रकार एक चित्रकार चित्र तैयार करने से पहले उसके स्वरूप, साधन तथा साधनों के उपयोग का ज्ञान प्राप्त करता है, और फिर ज्ञान के अनुसार क्रिया करते हुए चित्र तैयार करता है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मोक्ष के

जिज्ञासु साधकों के लिए बन्धन-मोक्ष के कारणों का तथा उनके परिहार का ज्ञान होना आवश्यक है। इसीलिए संक्षेप में कहा गया है कि 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः', योग क्रिया मार्ग का नाम है और इस मार्ग में प्रवृत्त होने से पहले साधक आत्मा आदि आध्यात्मिक तथ्यों का आरम्भिक ज्ञान शास्त्र से, सत्संग से या प्रतिभा से कर लेता है। यह प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान सभी का एक जैसा नहीं हो सकता, इसलिए योग मार्ग तथा उसके परिणामस्वरूप अर्थात् मोक्ष के स्वरूप में भिन्नता अनिवार्य है। इस प्रवर्तक ज्ञान का मुख्य विषय 'आत्मा' का अस्तित्व है। आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व मानने में भी दो मत है, पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। अतः योग विषयक साहित्य भी दो भागों में विभाजित है। कुछ उपनिषद् योग वशिष्ठ, हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवाद को ध्यान में रखकर रचे गये तथा महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन-बौद्ध योग ग्रन्थों में नानात्मवाद के प्रखर स्वर मिलते हैं।

भारतीय साहित्य का भण्डार मूलतः तीन भागों में बँटा हुआ है- वैदिक साहित्य, जैन साहित्य और बौद्ध साहित्य, इसी प्रकार योग के सन्दर्भ में भी तीन परम्परायें देखने को मिलती है- वैदिक योग परम्परा, जैन योग परम्परा और बौद्ध योग परम्परा। तीनों ही परम्पराओं में विचारों की असमानता भी प्रगट रूप में देखने को मिलती है परन्तु तीनों परम्पराओं की मूल दृष्टि एक सी ही है। इन परम्पराओं में वर्णित मूल तथ्यों का संक्षिप्त अवलोकन करना यहाँ पर अप्रासङ्गिक न होगा-

वैदिक योग साहित्य :

वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है जिसकी विषयवस्तु के रूप में आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। इसमें आध्यात्मिक भाव अर्थात्

परमात्म चिन्तन अत्यधिक सरल, स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है और जिससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन लोगों की दृष्टि केवल बाह्य न थी[18]. इसके अतिरिक्त इसमें ज्ञान, श्रद्धा, उदारता, ब्रह्मचर्य आदि आध्यात्मिक एवं उच्चमानसिक भावों के वर्णन भी मिलते हैं।[19] यद्यपि ऋग्वेद में योग शब्द अनेक स्थानों में आया है पर सभी जगह इसका अर्थ प्रायः 'जोड़ना' ही है। ध्यान या समाधि अर्थ में नहीं। इतना ही नहीं परवर्ती योग विषयक् साहित्य में ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योग प्रक्रिया प्रसिद्ध शब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेद में बिल्कुल नहीं है। ऋग्वेद का ब्रह्मस्फुरण जैसे-जैसे विकसित होता गया और उपनिषद् काल में जिस प्रकार विस्तृत हुआ शैनेः-शैनेः उसी प्रकार ध्यान मार्ग भी अधिक पुष्ट होता चला गया। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदों में भी समाधि अर्थ में योग, ध्यान आदि शब्द पाये जाते हैं।[20] श्वेताश्वेत्तर उपनिषद् में तो स्पष्ट रूप से योग तथा योगोक्त प्रत्याहार, धारणा आदि योगाङ्गों का वर्णन है।[21] मध्यकालीन और अर्वाचीन उपनिषद् तो योग विषयक ही हैं जिनमें योग शास्त्र की तरह योग प्रक्रिया का भी वर्णन है।[22] उपनिषदों मे जगत्, जीव और परमात्म सम्बन्धी जो तात्त्विक विचार हैं, उनको भिन्न-भिन्न ऋषियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से सूत्रों में ग्रन्थित किया है तथा उसे दर्शनशास्त्र का रूप प्रदान किया है। इस प्रकार शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्व विचार करने के बाद, संसार से छूट कर मोक्ष पाने के साधनों का निर्देश दिया है। सभी दर्शनकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में साधन रूप से योग की उपयोगिता अवश्य बतायी है।[23] यहाँ तक कि न्यायदर्शन में जिसमें प्रमाण पद्धति का ही विचार मुख्य है, महर्षि गौतम ने 'योग' को स्थान दिया है।[24] महर्षि कणाद् ने अपने वैशेषिक दर्शन में यम, नियम, शौच आदि योगाङ्गों का वर्णन किया है।[25]

सांख्यसूत्र में योग प्रक्रिया से सम्बन्धित कई सूत्र हैं।[26] ब्रह्मसूत्र में महर्षि वादरायण ने तीसरे अध्याय का नाम ही साधन अध्याय रखा है और आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि योगाङ्गों का वर्णन किया है।[27] योग दर्शन मुख्य रूप से योग विषयक ग्रन्थ है अतः उसमें योग विषयों का वर्णन पाया जाना सहज ही है।

गीता में योग :

जो योग उपनिषदों में सूत्रित है, उसी का विस्तृत वर्णन गीता में अनेक रूपों में किया गया है। उसमें 'योग' कभी कर्म के साथ, कभी भक्ति के साथ और कभी ज्ञान के साथ बताया गया है।[28] उसके छठे और तेरहवें अध्याय में योग के सभी मौलिक सिद्धान्त और योग की सारी प्रक्रिया आ जाती है।[29] गीता में विभिन्न योगों की चर्चा के साथ कुछ सामान्य लक्षणों का भी निर्देश है, जिन्हें योग के तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कहा जा सकता है। व्यावहारिक योग के लक्षण विभिन्न अध्यायों में विभिन्न प्रकार के हैं, जैसे कर्म फल की इच्छा का न होना[30], विषयों के प्रति अनासक्ति, निष्कामता, दुःख-सुख एवं हानि लाभ में समता[31] आदि लक्षणों के अतिरिक्त गीता में भावात्मक विधान भी है जैसे- सभी कार्य भगवान को अपर्ण करना, सब अवस्थाओं में सन्तुष्टि, मन को भगवान में एकाग्र करना[32] आदि। गीता में कहा गया है कि विशेष प्रकार का कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई ही योग है।[33] क्रोध, काम आदि दुर्वृत्तियाँ, अहंकार से ही उत्पन्न होती है और इसके विषय पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, तथा इनके पाँच विषय, पञ्च महाभूत, मन और बुद्धि है। इन विषयों की शुद्धि के लिए इन्द्रिय-संयम आवश्यक है, जिससे योग की लब्धि होती है। इस प्रकार योग दुःख से विमुक्त ऐसी अवस्था का नाम है जिसमें सुरक्षित स्थान में रखे दीपक की लौ की भांति

मन कम्पित नहीं होता। जब आत्मा के द्वारा परम् आत्मा का साक्षात्कार होता है तब उस समय मनुष्य को पूर्ण संतोष मिलता है और परम् आनन्द की अनुभूति में वह लीन हो जाता है।

योगवासिष्ठ में योग :

इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से 'योग' का ही निरूपण किया गया है तथा इसकी कथाओं में संसार से निवृत्ति का मार्ग बताया गया है। इसमें मन का विस्तृत विवेचन मिलता है तथा मन को ही पुरूषार्थ का सहायक माना गया है। बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रिय, देह पदार्थ आदि को मन के ही रूप में बताया गया है।[34] इसमें यहाँ तक कहा गया है कि मन के पूर्ण निग्रह से ही ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।[35] योगवासिष्ट में योग की तीन रीतियों का प्रारूप इस प्रकार है।[36]

(क) एकतत्त्वसाधनाभ्यास

(ख) प्राणों का निरोध

(ग) मनोनिग्रह

इस ग्रन्थ में सदाचार एवं विचार के सम्यक् परिपालन पर जोर दिया गया है एवं विचार को 'परमज्ञान' कहा गया है।[37] अविद्या को दुःखों का मूल कारण माना गया है तथा उसका विनाश सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति से बताया गया है।[38]

हठयोग में योग :

शिव हठयोग के आदि प्रवर्तक माने जाते है[39]। ह = सूर्य, ठ = चन्द्र अर्थात् सूर्य और चन्द्र का संयोग[40] हठयोग है जिसका उद्देश्य शारीरिक तथा

मानसिक उन्नति है। हठयोग के सात अंग प्रमुख हैं[41]- षटकर्म[42], प्राणायाम, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि। इसमें आसन, मुद्रा एवं प्राणायाम विशेष महत्व है। हठयोग प्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्ड संहिता, गोरक्ष पद्धति, गोरक्षशतक आदि हठयोग के प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगों का विस्तृत वर्णन है। घेरण्ड ने तो चौरासी आसनों की संख्या को चौरासी लाख तक पहुँचा दिया है। उक्त हठयोग प्रधान ग्रन्थों में हठयोग प्रदीपिका ही मुख्य है क्योंकि उसी विषय का अन्य ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

नाथसंप्रदाय में योग :

इसके प्रारम्भकर्त्ता गोरखनाथ हैं।[43] इनका समय 10वीं[44] अथवा 11वीं शती से पूर्व का है। इस योग मार्ग का प्रथम पद 'नाथ' हैं, एवं इस योग मार्ग की क्रियाएं एवं योगसाधना हठयोगियों से मिलती-जुलती है, परन्तु अन्तिम साधना में भिन्नता है। हठयोग में जहाँ तत्त्व, हठ तथा रसायन शरीर को अमर बनाते हैं, वहाँ नाथयोग आत्मा का अमरत्व, नादमधु का आनन्द तथा शिवभक्ति के साथ समरसता स्थापित करता है और इसका उद्देश्य आत्मा की अनुभूति प्राप्त करना है।[45] इसमें मन शुद्धि के अतिरिक्त काय शुद्धि पर बल दिया जाता है क्योंकि मन शुद्धि के लिए काय शुद्धि आवश्यक है।

स्मृति ग्रन्थों में योग :

ये ग्रन्थ आचार-विचार की नीतियों के कोष है जिसमें वैदिक परम्परा के चारों आश्रमों एवं विभिन्न नीतियों की विस्तृत चर्चा है।[46] इनके अनुसार अपने-अपने वर्णो तथा आश्रमों के धर्मो के सम्यक् पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती

है[47] यही कारण है कि इनमें गृहस्थ आश्रम में भी धर्म-पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति का विधान किया गया है। साधक योग की क्रियाओं के अभ्यास द्वारा[48] इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें[49] तथा आचार, दम्भ अहिंसा आदि क्रिया एवं योगाभ्यास से आत्म दर्शन की प्राप्ति करें।[50] इस प्रकार स्मृति ग्रन्थों में मोक्ष प्राप्ति के साधन रूप में 'योग' की चर्चा की गई है।

पुराणों में योग :

भागवत् पुराण में भक्ति योग के साथ-साथ अष्टांग योग का वर्णन है। इसमें कथाओं के माध्यम से यौगिक क्रियाओं और साधनों की चर्चा की गयी है जिसमें योग सम्बन्धी शब्दों के संकेत मिलते हैं जैसे - मन: प्रणिधान[51], आसन[52], ईश्वर में अपना मन भक्ति पूर्वक लगाना, मन, वचन तथा दृष्टि को एकाग्र करके अन्त: श्वास लेना तथा शान्त होना, अन्तिम बार श्वास को भीतर खींचकर ब्रह्म रन्ध्र से प्राण त्याग करना।[53] नारद द्वारा ध्रुव को ध्यानस्थ होने का उपदेश।[54] इसके अतिरिक्त प्राणायाम के दो भेद शिवपुराण में दिये गये हैं-

1. सगर्भ और
2. अगर्भ[55]

विष्णु पुराण में इन्हें ही सबीज एवं अबीज प्राणायाम बताया है।[56] भागवत् पुराण ग्रन्थ में प्राण मार्ग को शुद्ध करने हेतु कुम्भक, पूरक एवं रेचक का अभ्यास भी बताया गया है।[57]

पातञ्जल योग :

योग का उल्लेख तो कई ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु योग को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है। पातञ्जल योग सांख्य सिद्धान्त

पर बना। यह ग्रन्थ पदों में बँटा हुआ है। प्रथम पद में योग के लक्षण, स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपाय, द्वितीय पद में दु:खों के कारणों तथा तृतीय विभूतिपाद में धारणा, ध्यान, समाधि एवं सिद्धियों का वर्णन किया गया है और चतुर्थ पाद में चित्त के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है।[58] चित्त की पाँच वृत्तियां हैं[59] प्राण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति इन वृत्तियों से ही मानव को मुक्ति मिल सकती है, ऐसा महर्षि पतञ्जलि ने कहा है।

शैवागम में योग :

इसमें शिव को 'परम शिव' के नाम से सम्बोधित किया है। इसे ही अभिव्यक्त-सृष्टि का केन्द्र माना गया है। इसी केन्द्र बिन्दु से पाँच मुखों की रचना हुई है-

1. संधोयात 2. वामदेव 3. अघोर 4. ईशान्य और 5. तत्पुरुष[60]

इन्हीं से आगम बनते हैं। इन आगमों को शिव, रूद्र और भैरव आगम कहते हैं। ये अट्ठाइस बताये गये हैं।

. इनके अनुसार जीव पशु के समान होता है और वह तीन मलों से आवृत रहता है ये तीन मल हैं- आणव, माया तथा कर्म।[61] विशेष साधना तथा दीक्षा एवं शक्तिपात द्वारा ही मनुष्य अपने मल को दूर करके शिव स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। शैव मत में योग के तीन पाद[62] बताये गये हैं-

1. क्रिया 2. ज्ञान एवं 3. योग

काश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शनिकों ने 'समवेश' शब्द का प्रयोग योग के रूप में किया है। इस मत ने दीक्षा का विशेष महत्व माना है, क्योंकि इसी के द्वारा

स्वरूप का सम्बन्ध होता है। इसमें शक्ति पात द्वारा सुप्त कुण्डलिनी जागृत करना तथा स्वरूप बोध करना बताया है. इससे ही अखण्ड पद प्राप्त होता है। इसमें सुप्त शक्ति का शिव से मिलन ही 'योग' है। इसे 'नित्ययोग' या 'नित्य मिलन योग' भी कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त और योग :

अद्वैत वेदान्त को अगर हम दर्शनों में सबसे ऊपर रखे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसमें आत्मोपलब्धि के लिए योग को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। माया के कारण ही जीव इस संसार में भटकता रहता है, जिसे योग के माध्यम से या आत्म दर्शन द्वारा ही संसार से विमुख होकर प्रभु अनुकम्पा प्राप्त की जा सकती है।[63]

जैन धर्म में योग :

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी 'योग' का वर्णन किया गया है। 'योग' शब्द 'युज' धातु से बना है। संस्कृत में 'युज' धातु तीन है, एक का अर्थ है 'जोड़ना' और दूसरे का अर्थ है 'समाधि' तथा तीसरे का अर्थ है 'संयमन'। इनमें से 'जोड़ने के अर्थ वाले' युज धातु को जैनाचार्यो ने प्रस्तुत योगार्थ में स्वीकार किया है। जिन-जिन साधनों में आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता है, उन सब साधनों को योग कहते है।[64]

पातञ्जल योगदर्शन में योग का लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहा गया है। इसी लक्षण को श्रीयशोविजय जी ने भी बताया है। मन, वचन, शरीरादि को संयत करने वाला धर्म व्यापार ही योग है क्योंकि यही आत्मा को उसके साध्य मोक्ष के साथ जोड़ता हैं।[65]

जैन आगमों में योग का अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकार का है- 1. आर्त 2. रौद्र 3. धर्म और 4. शुल्क। इनमें आदि के दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होने के कारण योग में अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्म-ध्यान और शुल्कध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुल्क ध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित मोक्ष साधन है। इसके द्वारा दुःख रूप काष्ठ के सहस्त्रों अरण्य क्षण मात्र में सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषय में समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, आध्यात्मकल्पद्रुम टीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ है।

किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए उस पर अटल श्रद्धा होनी चाहिए। योग के लिए जो कुछ आवश्यक है उस पर तथा जो पूर्णयोग है उन पर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योग का आवश्यक अंग है। इसको योग दर्शन में 'सम्यग्दर्शन' कहते है।[66] केवल विश्वास रखकर बैठे रहने से कुछ नहीं होता। विश्वास के साथ सम्प्रदाय का रहस्य ज्ञान भी परिपूर्ण रीति से होना चाहिए, इसको 'सम्यक्श्रुत' होना कहते है। यह ज्ञान दर्शन चारित्रात्मक त्रिविध योग है। इसके पालन से योग परिपुष्ट होता है और आत्मा का आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योग की पूर्णता ही मोक्ष प्राप्ति की अवस्था है। वैदिक दर्शनों में जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ है, वैसे ही जैन दर्शन में उमास्वातिकृत 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योग के विषय में है- 'सम्यग्दर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः'। इसी सूत्र पर सम्पूर्ण ग्रन्थ है, जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

जब आत्मा विकास की दिशा में प्रयाण करता है, तब से मोक्ष प्राप्त होने की अवस्था तक की योग्यता के चौदह गुण जैन-आगमों में बताये है- 1. मिथ्यात्व

2. सास्वादन, 3. मिश्र 4. सम्यग्दर्शन 5. देशविरति, 6. प्रमत्तश्रमणत्व, 8. अपूर्वकरण 9. अनिवृत्ति, 10. सूक्ष्म लोभ, 11. उपशान्तमोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोगी केवली और 14. अयोगी केवली। पातञ्जलयोग के अष्टांगयोग में प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योग की जो भूमिकाएं होती है वे भी इन चौदह गुण स्थानों में से पूर्व के चार गुण स्थानों में परिगणित हुई है। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा 'कर्मग्रन्थ', कर्मप्रकृति और 'गोमटसार' आदि ग्रन्थों में इस विषय का सूक्ष्म विवेचन है।

महर्षि पतञ्जलि योग विद्या के महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शन में योग के जो अंग, लक्षण परिभाषा तथा प्रकारादि कहे है, उन्हें अनेक धर्मो के विद्वानों ने माना और अपनाया है। पीछे के योग साहित्य पर उन्हीं के सूत्रों की गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्यो ने भी अपनी संस्कृति के अनुकूल योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये है। आचार्य श्री हेमचन्द सूरिकृत योगशास्त्र में पातञ्जल योगदर्शन के यम-नियमादि अंगों को ही क्रम से गृहस्थ धर्म, साधु धर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजय जी ने भी आठ अगों का उल्लेख किया है। जैनयोगी श्री आनन्दघन ने भी अपने पदों में आठों अंगों का वर्णन किया है।

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्यो ने प्राणायाम को योग का चौथा आवश्यक अंग माना है। परन्तु जैनाचार्यो ने इसे आवश्यक नहीं माना है। श्री हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों ने तो इसका निषेध भी किया है।[67] प्राणायाम हठयोग है और हठयोग को जैनाचार्यो ने योगमार्ग में अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरि ने कहा है कि ध्यान में बलात्कार से श्वासोच्छ्वास का निरोध नहीं करना चाहिए। पातञ्जलयोग सूत्र की वृत्ति में 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'[68] इस सूत्र की व्याख्या करते हुये श्रीयशोविजय जी

ने भी लिखा है- 'अनैकान्तिकमेतत्। प्रसहा ताभ्यां मनोव्याकुलीभावात्। असासंगणिरूभइ' तथा - इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।

तात्पर्य यह है कि किसी साधक को इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करें, इसमें कोई निषेध नहीं है, परन्तु सबके लिए प्राणायाम का आवश्यक अंग जैन आचार्य नही मानते।

चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षण का है, परन्तु तद्गताभावों के तारतम्य से जैन विद्वानों ने तीन प्रकार की आत्मा मानी है- 1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा और 3. परमात्मा। तीनों के लक्षण इस प्रकार हैं -

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्पादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः।।
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः।।
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिवृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः।।

शरीर, धनादि बाह्य पदार्थो में मूढ़ होकर उन्हीं में जो आत्मबुद्धि धारण करता है, वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है। स्वयं में ही आत्मभाव धारण किए हुए जो यम-नियमादि को समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलों से विहीन जो मुक्तपद को प्राप्त होता है वह परमात्मा है। उसी परमात्मपद को प्राप्त करने का साधन योग कहलाता है।

बौद्ध धर्म में योग :

योग उस दर्शनशास्त्र को कहते हैं जिसका ध्येय है जीवात्मा या व्यष्टि चेतना का परमात्मा या समष्टि चेतना के साथ, अथवा जीव का ईश्वर के साथ, सम्बन्ध

स्थापित करना। बौद्ध ग्रन्थों में 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, उनके स्थान में 'बोधिचित्त' और 'शून्य' शब्द व्यवहृत हुए है। बौद्धशास्त्र में 'बोधिचित्त' एक प्रकार से जीवात्मा अथवा व्यष्टि का ही वाचक है और 'शून्य' परमात्मा अथवा समष्टि चेतन का पर्याय है जिसमें 'शून्य' 'विज्ञान' और 'महासुख' ये तीन गुण माने गये हैं।

भगवान बुद्ध ने साधना के आठ मार्ग बताये हैं, उनमें एक मार्ग 'सम्यक्समाधि' भी है। यौगिक क्रियाओं के आदर्श भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शास्त्रों में भिन्न-भिन्न हैं। उपनिषदों में इसे ब्रह्म के साथ योग अथवा ब्रह्म के साथ साक्षात्कार के रूप में प्रतिपादित किया गया है। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन में योग सत्य का अन्तर्निरीक्षण है। बौद्ध धर्म में बोधिसत्व की प्राप्ति जगत की निःसारता के ज्ञान का द्योतक है।

पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यहाँ योग का अर्थ 'समाधि' ही होता है। चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा योग सम्पन्न होता है। चित्तवृत्ति के निरोध के सम्पन्न हो जाने पर व्यक्ति मुक्त हो जाता है यही कैवल्य की अवस्था है। पतञ्ज़लि की ही तरह भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में चित्तवृत्ति या मन की स्थिरता के लिए अभ्यास और वैराग्य को आवश्यक बतांया है।

बुद्ध एक यथार्थ सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार उच्चतम श्रेणी के चिन्तन का नाम 'ध्यान' है। बौद्धधर्म में प्रार्थना-उपासना का स्थान इसी ध्यान ने ले लिया है। ध्यान की चार सीढ़ियाँ है- पहली सीढ़ी प्रसन्नता एवं आह्लाद है, जिसकी प्राप्ति एकान्त सेवा से होती है। इस एकान्तता के साथ-साथ अन्तदृष्टि चिन्तन, गूढ़ विचार एवं जिज्ञासा का विकास होता है एवं साधक को

इन्द्रिय योग के बन्धन आदि से मुक्ति मिलती है। दूसरी सीढ़ी उल्लास एवं चाचंल्यराहित्य की है। तीसरी सीढ़ी वासनाओं एवं पक्षपातों का अभाव है, जहाँ आत्ममोह सर्वथा समाप्त हो जाता है। चौथी सीढ़ी आत्मसंयम एवं पूर्ण शान्त मुद्रा की है, जिसमें न कोई चिन्ता है और न आह्लाद क्योंकि जो आह्लाद एवं चिन्ता को उत्पन्न करते हैं, उन्हें एक ओर छोड़ दिया जाता है अर्थात् आह्लाद एवं विषाद इन दोनों की मध्यवर्ती सम-अवस्था में रहने का प्रयत्न किया जाता है। यही योगरूप है।

बौद्धदर्शन के अनुसार ध्यान में मन को सभी विद्यमान वस्तुओं के साथ समता में लाने का एक सतत प्रयास करना है। बौद्ध-संघ के सदस्यों के दैनिक जीवन का मुख्य भाग ध्यान का अभ्यास करना है। शरीर को वश में करना, ज्ञान प्राप्ति की पूर्व भूमिका है। बौद्धधर्म के ध्यान एवं योग सम्बन्धी दोनों ही सिद्धान्त इस बात पर बल देते है कि मानसिक प्रशिक्षण के लिए शारीरिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी अवस्थाओं का अनुकूल होना आवश्यक है।

बुद्ध 'प्रज्ञा' को सर्वोत्तम स्थान प्रदान करते हैं। 'प्रज्ञा' बिना प्रेम और परोपकार भाव के सम्भव नहीं है और यदि ऐसा हो भी तो वह प्रज्ञा-स्थिति नहीं होती। जीवन में सदाचार का अत्यन्त महत्व है। यदि जीवन में सदाचार का अभाव है तो ध्यान की कोई सार्थकता नहीं। बौद्धधर्म के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का नियंत्रण होने पर जब इन्द्रियों के अनुभव समाप्त होकर उसके परे हो जाते हैं तो 'प्रज्ञा' (पारमिता) प्रकट हो जाती है।

गौतम बुद्ध की 'सम्यक्-समाधि' जीवन के दुःखमय संसार को समाप्त करने का सबसे कठिन मार्ग है। भोग-विलास तथा भौतिकता से ग्रस्त होने के कारण

व्यक्ति का जीवन दुःखमय है, क्योंकि भौतिक वस्तुओं का कोई अन्त नहीं है, वस्तुओं का आकर्षण प्रायः समाप्त नहीं होता। व्यक्ति जितना ही पाता है उतना ही पाने का प्रयास करता है। जब उसमें असफलता मिलती है तो वह दुःखी होता है। ध्यान और योग तभी जीवन के लिए उपयोगी है जब भोग-विलास से अपने को दूर रखा जाय। इस प्रकार बौद्धदर्शन का यह योग गीता के निष्काम-कर्म को ही प्रतिपादित करता है।

बौद्धधर्म मूलतः प्रेम का धर्म है। मानवीय सहृदयता एवं विश्वास का धर्म है। इन तत्त्वों का विकास तभी होगा जब जीवन की मूल चेतना का स्तर शुद्ध चेतना की स्थिति प्राप्त कर सकेगा। शुद्ध चेतना इन्द्रियों के निग्रह और संयम से होती है। संयम ध्यान से तथा ध्यान की स्थिति और ध्यान में उस प्रज्ञा की अनुभूति का साक्षात्कार होता है जो प्रेम और परमार्थ के उदात्त तत्त्वों को जाग्रत् करता है। तत्त्वावबोध या अखण्ड समाधि में महात्मा बुद्ध को जो कुछ भी अनुभव हुआ वह तुरीयावस्था है। तुरीयावस्था को ही बौद्धदर्शन में विशुद्ध प्रज्ञा की स्थिति माना गया है।

ध्यान का प्रयोग बौद्धधर्म में संसार से विरक्ति के लिए किया गया है, किन्तु ध्यान के द्वारा प्राप्त शुद्ध चेतना से जीवन को समरस रूप में जीने की शक्ति भी आती है। तुरीयावस्था ध्यान में जीवन-पलायन नहीं है, जीवन को सार्थक रूप में जीने की प्रज्ञा है।

इस प्रकार अधिकांश बातों में जैन-बौद्ध और पतञ्जलि, मार्कण्डेय आदि के योग भी निर्बीज समाधि तक पहुँचते है और एक ही ढंग की साधना और सिद्धावस्था तथा शान्ति, प्रेम के रूप में परिणत होते दीखते है। कपिल, आसुरि,

स्यूमरश्मि, गौतम आदि के भाव भी अहिंसा से आरम्भ होकर समाधि तक एक ही रूप में पहुँचते हैं। इस योग में सूफी, ईसाई और यहूदी तथा पारसियों आदि का कोई मतभेद नहीं दिखाई देता। सभी धर्मो में समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमभाव, धारणा, ध्यान और लययोग के द्वारा समाधि में पहुँचने की एक ही प्रक्रिया स्पष्ट होती है। वास्तव में योग एक ऐसा धर्म है जिसमें कोई विवाद का अवसर नहीं दिखाई पड़ता इसलिये यह संसार के सभी धर्मो में व्याप्त है। बौद्धधर्म की सभी शाखाओं में प्राय: योग ही प्रधान रूप में अनुप्राणित है।

सांख्य में योग :

सांख्य भारतवर्ष का सबसे प्राचीन दर्शन है। सांख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। सांख्य और योगदर्शन में अत्यन्त ही निकटता का सम्बन्ध है जिसके कारण दोनों दर्शनों को समान तंत्र कहा जाता है। दोनों दर्शनों के अनुसार जीवन का मूल उद्देश्य मोक्षानुभूति प्राप्त करना है। सांख्य के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति विवेक ज्ञान से ही सम्भव है। परन्तु योगदर्शन विवेक ज्ञान प्राप्ति के लिए योगाभ्यास को आवश्यक मानता है।

सांख्यदर्शन द्वैतवाद का समर्थक है इसके अनुसार चरम सत्ताएँ दो हैं जिनमें एक को प्रकृति और दूसरी को पुरुष कहा जाता है। प्रकृति पुरुष का वर्णन ऋग्वेद तथा सांख्यशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपनिषदों में मिलता है। पंचशिखा के शिष्य ईश्वर कृष्ण ने प्रकृति और पुरुष के अनादित्व के साथ ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया तब से आधुनिक सांख्यशास्त्र निरीश्वरवादी है।



सांख्य के मौलिक सिद्धान्त वेद और उपनिषदों के है। प्रथमतः उसमें आत्म–अनात्म विचार से सब कर्मो का संन्यास करके ब्रह्मज्ञान में निमग्न रहने वाले वेदान्तियों का समावेश किया गया है इसी अर्थ में सांख्ययोग का प्रयोग होता है जिसे परमोच्च योग कहा गया है। इसी को 'ज्ञानयोग' और 'संन्यासयोग' भी कहते हैं। प्रकृति के द्वारा ही सारा प्रपंच रचा जाता है और पुरुष सत्वतः निर्लेप रहता है। गीता में भी इस विषय का वर्णन किया गया है।[51]

अर्थात् जिसको यह ज्ञान हो गया कि कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता, तब उसे सच्चे तत्त्व की पहचान होती है। जब भूतों के पृथक्त्व (नानात्व) में एकता दिखने लगे, और इसी एकता से ही सब विस्तार दिखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

जिस समय प्रकृति अपनी माया का विस्तार बन्द करती है तब पुरुष 'कैवल्य' पद प्राप्त करता है। पुरुष की इस स्वाभाविक स्थिति को सांख्यों ने 'युक्तावस्था' बताया है। इसी अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष को 'सांख्ययोगी' या 'ज्ञानयोगी' कहते है। सांख्य का मुक्त पुरुष ही 'सांख्ययोगी' है। उसे त्रिविध दुःखो से छुटकारा मिल जाता है। उसी की मुक्ति का साधन है 'सांख्ययोग'।

'सांख्ययोग' मननात्मक साधन से लक्ष्य होता है, इसमें बाह्य क्रियाओं का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। जब जीवात्मा शास्त्रीय क्रियाओं द्वारा मल और विक्षेप को दूर कर लेता है तब भी परब्रह्म और उसके बीच एक आवरण रह जाता है। इस आवरण को हटाने का साधन है सांख्ययोग, ज्ञानयोग या संन्यासयोग। जब अधिकारी संन्यासयोग पर आरूढ़ हो जाता है तो जीवात्मा सच्चिदानन्द परमात्मा में एकीयभाव

से स्थिर होकर अलिप्त सांसारिक क्रियाएँ करता रहता है। उस समय उसको अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

उस आत्मज्योति के साक्षात्कार होने पर हृदय की गाँठ टूट जाती है और सब सन्देहों का निराकरण हो जाता है और उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसी अवस्था को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। जैन उसे ही 'केवली' या 'कैवल्य' पद मानते है। बौद्ध इसे 'निर्वाण' की संज्ञा देते हैं, ईसाई लोग इस अवस्था तक पहुँचे हुए को 'पवित्र आत्मा' कहते हैं। मुसलमान इसे ही 'पहुँचा हुआ फकीर' मानते हैं।

सांख्ययोगरूढ़ पुरुष वसुधा का रत्न है, वह मानवजाति को आध्यात्मिक भावना से सुरक्षित रखता है। सांख्ययोगी के लिए संसार की विभिन्नताएं एकता में परिणत हो जाती है। 'वासुदेव: सर्वमिति' अर्थात् ब्रह्म या महेश्वर के अतिरिक्त इस संसार में दूसरा पदार्थ है ही नहीं, ऐसा मानता हुआ सांख्ययोगी त्रिगुणात्मक संसार से परे हो जाता है। सांख्ययोगी अपने स्वरूप का दर्शन कर लेने पर आनन्द सागर में विहार करता रहता है।

चरक संहिता में योग :

चित्तवृत्तियों का निरूद्ध हो जाना ही योग है। अर्थात् योगावस्था में चित्त विषयों से हट जाता है और अपने कारण आत्मा-परमात्मा में लीन हो जाता है। जब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। आयुर्वेद के महान् ऋषि भी योग के इन सिद्धान्तों को मानते थे। चरक संहिता के प्रारम्भ में आयुर्वेद दीपिकाकार चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि आयुर्वेद के उपदेष्टा भगवान् चरक और योगदर्शन के आद्य आचार्य भगवान् पतञ्जलि एक ही व्यक्ति के दो नाम है।[62] चरक संहिता में अनेक स्थल पर योग की व्याख्या, योग

की सिद्धियों का विवरण, योगियों की चर्या, हठयोग के सिद्धान्त-वमन, विरेचन, वस्ति आदि का वर्णन प्राप्त होता है। अतः योग और आयुर्वेद के सिद्धान्तों का मूल प्रयोजन प्रायः समान ही है और दोनों शास्त्रों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरक संहिता में योग की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आत्मा को मन और इन्द्रियों के साथ विषयों के सम्पर्क से सुख-दुःख होते हैं। जब मन आत्मा में स्थिर हो जाता है, तब सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। मन के आत्मा-परमात्मा में लीन हो जाने की अवस्था को योगियों ने योग कहा है।[71]

मन और आत्मा का सतत् सम्पर्क रहता है। मोक्ष होने पर ही आत्मा को मन से छुटकारा मिल सकता है, यहीं बात भगवान् चरक ने भी कही है। आत्मा जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने के लिए जाता है, तब वह अपने साथ किये हुए कर्म के फल, मन-बुद्धि-अहंकार, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, सूक्ष्म भूत आदि घटकों को ले जाता है। योगी लोग यह देखते हैं परन्तु सामान्य मनुष्यों को यह अनुभव नहीं हो पाता।[72]

भगवान् चरक ने इन्द्रिय-विजय को आरोग्य का प्रमुख कारण बतलाया है, उनका कथन है कि मानसिक धारणीय वेगों को रोकने से व्यक्ति पाप मुक्त होकर पुण्यशाली बनता है और शीघ्र ही धर्म-अर्थ और काम को प्राप्त करता है।

आयुर्वेद के अनुसार इन्द्रिय सहित शरीर और मन वेदना का अधिष्ठान माना गया है। योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष प्राप्त होने पर सभी प्रकार की (शारीरिक-मानसिक-ऐन्द्रियिक) वेदनाओं का नाश हो जाता है, अतः योग मोक्ष का प्रवर्तक है।[73] योग स्वयं मोक्ष नहीं है, अपितु योग की उपासना

से मोक्ष की प्राप्ति होती है। योग प्रवृत्ति से शारीरिक, मानसिक आरोग्य तो प्राप्त होता ही है, साथ ही साथ समाहित चित्तता की भी प्राप्ति हो जाती है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में सत्व, रज एवं तमों गुण के परिणामस्वरूप चित्त की पाँच अवस्थाएँ बतलायी है- 1. मूढ़, 2. क्षिप्त, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र तथा 5. निरूद्ध। जगत में जो कुछ भी दृश्यमान है अर्थात् जो कुछ भी देखा जाय, सुना जाय, इनके आधार पर हमारा आभ्यन्तर चित्त प्रतिक्षण कार्यरत रहता है, यह सारा संसार मनुष्य-मन का मूर्तस्वरूप है। मनुष्य के चिन्तन-मनन के परिणामस्वरूप वैज्ञानिक आविष्कार, रोगों की चिकित्सा, औषधियों का संशोधन, ग्रहों-उपग्रहों के परिभ्रमण आदि का ज्ञान हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करे तो यह चित्त क्षण-क्षण पर सत्व-रज और तमोगुण से युक्त होता रहता है। तीनों अवस्थाओं में चित्त में विभिन्न गुण धर्म होते हैं। चरक संहिता शरीर-स्थान अध्याय 4 (चार) में चित्त के गुण धर्मो एवं प्रकृतियों का वर्णन किया गया है।

भगवान् पतञ्जलि ने योग को मोक्ष का मार्ग कहा है तथा चित्तवृत्तियों के निरोध को योग बतलाया है और इसके लिए उन्होंने अष्टांगयोग का उपदेश किया है। आयुर्वेद के ऋषियों ने भी प्रायः इन्हीं सिद्धान्तों पर शारीरिक एवं मानसिक रोग की चिकित्सा का निर्देश दिया है। योग के उपदेशों को धारण करने से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योगमार्ग के अष्टांग-उत्तरोत्तर आठ सोपान है। अष्टांगयोग के पालन में जिस प्रकार का पवित्र आचरण करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार के आचरणों से मोक्ष प्राप्ति का विवरण भगवान् चरक ने भी दिया है। आयुर्वेद के स्वस्थवृत्त में तथा दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा में ये बातें कही गयी है।

चरक संहिता में कहा गया है 'सज्जनों की सेवा करना, दुर्जनों का त्याग करना, शास्त्रोपदिष्ट व्रत, उपवास तथा पवित्र नियमों का पालन करना, धर्मशास्त्र का निरन्तर अभ्यास करते रहना, आत्मज्ञान में रूचि रखना, एकान्तप्रियता, विषयों में अनासक्ति, मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत् यत्न करते रहना, धैर्य धारण करना, नूतन कर्मो द्वारा फल प्राप्ति-रूपी बन्धन में न फँसना, किये हुए कर्मो का क्षय करने का उपाय करना, कर्म निष्काम भाव से करना, पुनर्जन्म का भय रखना, मन, बुद्धि को आत्मा-ईश्वर से जोड़ना यही मोक्ष का सरलतम मार्ग है।[74] गीता में भी मोक्ष का मार्ग इसी प्रकार का बतलाया गया है।[75] उपर्युक्त आचरण में योग के उपदिष्ट अष्टांगों का समावेश हो जाता है।

चरक संहिता, चिकित्सास्थान के रसायन-सेवन के प्रकरण में कहा गया है कि निम्नलिखित कर्मो को करने वाला मनुष्य यदि रसायन औषध द्रव्यों का सेवन नहीं करता है तो भी उसे रसायन सेवन के सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं। यथा- मातृकाओं के साथ भगवान् शिव का पूजन, विष्णु सहस्रनाम पाठ, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, गंगा और इष्टदेवता आदि की उपासना, माता-पिता, गुरूओं की भक्तिपूर्वक सेवा, ब्रह्मचर्यादि के नियमतः पालन, जप, होम, वेदों के श्रवण तथा सन्तों के दर्शन आदि ग्राम, नगर और जनपद आदि के विध्वंसक रोगों के समन के लिए सत्य, दया, देवतार्चन, धर्मशास्त्रों का श्रवण आदि का भी उपदेश भगवान् चरक ने किया है।[76] स्वस्थवृत्त के प्रकरण में कई स्थल पर योग का विवरण मिलता है।

योग की प्रक्रिया में जैसे-जैसे साधक अपनी साधना में आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसे दिव्य शक्तियों एवं सिद्धियों की उपलब्धि होने लगती है, उनमें आठ मुख्य सिद्धियाँ निम्न प्रकार से है-

1. अणिमा- अणु-समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना, 2. लघिमा- शरीर को फूल सदृश हलका बनाना, 3. महिमा- शरीर को बड़ा बना लेना, 4. गरिमा- शरीर को भारी बना लेना, 5. प्राप्ति- संकल्प-बल से पदार्थो और प्राणियों को वश में कर लेना, 6. प्राकाम्य- इच्छापूर्ति कर लेना, 7. वशित्व- पदार्थो और प्राणियों को वश में कर लेना और 8. ईशित्व- प्राणी और पदार्थो पर शासन-शक्ति जमा लेना। इन आठ सिद्धियों के अतिरिक्त मनोजवित्व, अप्रतिहतगतित्व, दूरश्रवण, पशु-पक्षी आदि की बोली का ज्ञान तथा आदि अनेक शक्तियाँ भी उसे प्राप्त हो जाती है।

भगवान् चरक द्वारा निर्दिष्ट शुद्ध सत्व समाधि से योगियों को जो अष्टविध ऐश्वर्य प्राप्त होते है, वह इस प्रकार हैं -

1. आवेश- सूक्ष्म शरीर द्वारा दूसरे शरीर में प्रवेश करना, 2. छन्दतः क्रिया- प्राणी पदार्थो को वश में कर लेना, 3. चेतस्-ज्ञान- दूसरों के विचार को जान लेना, 4. इष्टतः दृष्टि- इच्छानुसार देखना, 5. इष्टतः श्रौत- इच्छानुसार सुनना, 6. इष्टतः स्मृति- इच्छानुसार स्मरण करना, जन्मान्तरों का स्मरण करना, 7. इष्टतः कान्ति- इच्छानुसार स्वरूप धारण कर लेना और 8. इष्टतः अदर्शन- इच्छानुसार अदृश्य होना।

स्वास्थ्य रक्षण में हठयोग की क्रियाएँ बहुत ही सहायक है। हठयोग के आसन तथा धौति, वस्ति, नेति आदि षट्कर्म भी आयुर्वेद के पञ्चकर्म के जनक हैं।

हठयोग का महत्वपूर्ण अंग आसन है। आसनों की संख्या 84 बतायी गयी है। आसनों के माध्यम से स्वास्थ्य रक्षा की जा सकती है तथा अंग की स्थूलता दूर की जा सकती है। पवनमुक्तासन, वीरासन, वज्रासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन आदि

आसनों से वातदोष, भुजंगासन, शलभासन एवं वस्ति (कर्म) से पित्तदोष तथा गजकरणी, धौति (कर्म) नेति (कर्म) से कफ सम्बन्धी दोषों के अपाकरण में सहायता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार शवासन, प्राणायाम, शीर्षासन से हृदय, शीर्षासन, सूत्रनेति (क्रिया) त्राटक से नेत्र, जलनेति (वमन) सूत्रनेति (क्रिया) से नासिका , प्राणायाम, सूर्यनमस्कार से फुफ्फुस, मत्स्येन्द्रासन से प्लीहा , भुजंगासन से वृक्क, पद्मासन, वज्रासन आदि से अंडकोष , मयूरासन हलासन से आँत , योगमुद्रा, शीर्षासन, मत्स्यासन आदि से मस्तिष्क आदि शरीर के विभिन्न अवयवों के विकार दूर होते हैं।

आयुर्वेद-संहिताओं में वर्णित पञ्चकर्म हठयोग के षट्कर्मो से मिलते-जुलते है। भगवान् चरक ने 1. वमन, 2. विरेचन, 3. वस्ति, 4. धूम्रपान, 5. नस्य (सुश्रुत-रक्तमोक्षण) इन्हें पञ्चकर्म कहा है। हठयोग-प्रदीपिका में धौति, वस्ति, नेति त्राटक, नौलि और कपालभाति को षट्कर्म के अन्तर्गत रखा गया है। त्रिदोष के वैषम्य को सम-अवस्थाओं में लाने के लिये ही इन कर्मो का प्रयोग किया जाता है तथा इन कर्मो में अनेक रोगों का शमन होता है।

योगदर्शन और आयुर्वेद :

ये दोनों ही वेदों के व्याख्यान हैं और वेदों का तात्पर्य परमात्मा को जानने में है। योग साधना में चित्त की वृत्तियों को भगवदाकर करने का उपदेश है तथा आयुर्वेद में भी शरीर एवं मन के सभी विकारों को दूरकर स्वच्छ एवं निर्मल अन्तःकरण में भगवद्दर्शन करने का निर्देश दिया गया है। मूलतः सभी विधाएँ, सभी शास्त्र भगवान् को ही प्राप्त कराने वाले है।

सन्दर्भ-सूची

1. सा घा नो योग आ भुवत। (ऋ0, 1/5/3).
2. स घी ना योग भिन्वती। (ऋ0 1/18/7).
3. ऋग्वेद, 1/34/9, 2/8/1, 10/166/5, 10/167/1, अथर्ववेद 4/35/1-2.
4. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। (यो0सू0 1/2).
5. योगः कर्मसु कौशलम्। गीता, 2/50
6. दुःख संयोगवियोग योग संहितम्। (भगवत्गीता)।
7. समत्वं योगमुच्येते। (भगवतगीता)।
8. विज्ञान सहितम् अनुभव युक्तम्। (गीता, 9/1).
9. ज्ञानं विज्ञान संहितम् यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेडुशुभात्। (गीता 9/1).
10. अयं तु परमों धर्मो मद्योगेनात्मदर्शनम्। (याज्ञ0 स्मृति 1/8).
11. नास्ति योग समं बलम्। (महाभारत 12).
12. योगः अप्राप्तस्य प्रापणम्। (गीता, 9/22)
13. युजिर योगे। (धातुपाठ, 1469)
14. योगो मुक्तिः समाधानम्। (तैत्ति0उप0)
15. युज समाधौ। (धातुपाठ 202).
16. योगः समाधि स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (योगसूत्र भाष्य 1/1)
17. योगमात्म विशुद्धये। (गीता 6/12)
18. जैन साहित्य संशोधक, लेख0 पं0 सुखलाल जी, पृ0 6.
19. वही, पृ0 7.
20. (क) तैत्तिरीय उप- 2-4, कठ0उप0 2/6/11, श्वेताश्वर उप0, 2/11/63.
    (ख) छान्दोग्य उप0, 7/6/1, 7/6/1, 7/7/1, श्वेताश्वर उप0, 1/14, कौशीतकि, 3.2, 3.3, 3.4, 3.6.
21. जैन साहित्य संशोधक, लेख0 पं0 सुखलाल जी, पृ0 7.

22. ब्रह्म विद्योपनिषद्, क्षरिकोपनिषद्, चूलिकोपनिषद्, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु इत्यादि।

23. जैन साहित्य संशोधक, लेख0 पं0 सुखलाल जी, पृ0 8.

24. समाधिविशेषाभ्यासात्- 4/9/38, 4/2/42, 4/2/46.

25. अभिषेचनो-------नियमाश्रादृष्टाय, 6/2/2, 6/2/8.

26. रागोप कृतिर्ध्यानम्, 3/30, 3/31, 3/33, 3/34.

27. आसीनः संभवात्, 4/1/7, ध्यानाच्च 4/1/8, 4/1/9, 4/1/10.

28. जैन साहित्य संशोधक ले0 पं0 सुखलाल जी, पृ0 9.

29. वही,

30. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, लेखक-अर्हद्दास बडोवा, पृ0 15.

31. वही,

32. वही, पृ0 16.

33. योगः कर्मसु कौशलम्- गीता 2/50.

34. योगवासिष्ठ, 6/114/17, 6/7/11, 3/110/46.

35. वही, 5/86/9.

36. योग मनोविज्ञान, पृ0 12.

37. योगवासिष्ठ, 2/16/19.

38. वही, 2/11/41.

39. हठयोग प्रदीपिका, 1/1.

40. हठयोग प्रदीपिका, 1/1, 3/15.

41. घेरण्ड संहिता, 1/10/11.

42. हठयोग प्रदीपिका, 2/2.

43. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, लेखक-अर्हद्दास बडोवा, पृ0 26.

44. वही,

45. वही,

46. वासिष्ठ स्मृति. 206.

47. हारीत स्मृति. 8/2.

48. वही, 8/4.

49. वसिष्ठ स्मृति. 254.

50. याज्ञवल्क्य स्मृति. 8.

51. भागवत् पुराण, 1/6, 16-17.

52. भागवत् पुराण, 1/7/3.

53. भागवत् पुराण, 1/9/43.

54. वही, 4/8/44.

55. शिवपुराण वायवीय संहिता. 37/33.

56. विष्णु पुराण, 6/7/40.

57. भागवत् पुराण, 3/28/9.

58. योगदर्शन. 1/2.

59. वही, 1/6.

60. तन्त्रालोक, कष्ठसंहिता, भाग 1, पृ0 37-38.

61. आणव-मायीय- कर्मकलाकृतत्वात् त्रिमयः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ0 15.

62. तन्त्रालोक, कष्ठसंहिता, भाग 1, पृ0 37-38.

63. वेदान्त दर्शन

64. (क) मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरूध्यते। (श्री यशोविजयकृत्वा द्वात्रिंशिका 10/1).

(ख) मुक्खेण जोयणाओ जोगो (श्री हरिभद्रसूरिकृता योगविंशका 1)

65. (क) समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्। (पातंजतलयोगदर्शनवृत्ति)

(ख) यतः समितिगुप्तीनां प्रपंचो योग उत्तमः। (योगभेदद्वात्रिंशिका 30)

66. तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। (तत्वार्थ सूत्र 1/2)

67. तन्नाप्रोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः।। (हैमयोगशास्त्र)

68. योगसूत्र 1/34.

81 69.47 प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। गीता (13/29-30)

482 70. पातंजलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।

मनोवाक्कामदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः।। (च0सू01/1 पर चक्रपाणि)

योगेनचित्तस्य पदेन वाचां मले शरीरस्य तु वैद्यकेन।

योऽपाकरोतं प्रवरं मुनीनां पतंजलि प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

(योगवार्तिक विज्ञान भिक्षु)

71. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते।

सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्ये मनसि स्थिरे।।

निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।

सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः।। (चरक-शारीर 1/44)

72. अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकार विकारदोषैः।।

(चरक-शारीर 2/36)

73. वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।

केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना।।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामावर्तनम्।

मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः।। (चरक शारीर 1/43-44)

74. सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम।

व्रत चर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः।।

धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञान विजने रतिः।

विषयेस्वरतिमोक्षे व्यवसाय: परा धृति:।।
कर्मणामसमारम्भ कृतानां च परिक्षम:।
नैष्कर्म्मनहंकार: संयोगे भयदर्शनम्।।
मनोवृद्धिसमाधानमर्भतत्त्वपरीक्षणम्।
तत्त्वं स्मृतेरूपस्थानात् सर्वभेतत्प्रवर्तते।। (चरक-शारीर 1/47)

75. गीता 15/1-4.

76. (अ) सोमं सानुचरं देवं समातृणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयत: शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्।
विष्णु सहस्त्रमूर्धानं चराचरपति विभुम।
स्तुवन्नामसहस्त्रेण ज्वरान सर्वान् व्यपोहति।।
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्।
गंगा मरूद्गणांश्चेष्टान् पूजायन् जयति ज्वरान्।।
भक्त्या मातु: पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च।।
जपहोमप्रदानवे वेदनां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च।। (चरक चि0 3/116-200)
(ब) सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमों गुप्तिरात्मन:।।
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्।।
संकथा धर्मशास्त्राणं महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकै सत्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतै:।।(चरक निदा0, 3/16-19).

77. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दत: क्रिया।
दृष्टि: श्रोतं स्मृति कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्।। (चरक शारीर, 1/45)

*****

द्वितीय अध्याय

हठयोग के विभिन्न आसन, मुद्रा, बन्ध, षट्कर्म आदि का स्वास्थ्य पर लाभ; योगाभ्यास क्रम एवं सावधानियाँ

इडा हि पिङ्गला ख्याता वाराणसीति होच्यते । वाराणसी

ब्रह्मरन्ध्र

भ्रमर गुफा

विद्युत वर्ण

वायु सृष्टि

परावाचा

वैखरी वाचा

मात्रा 32

कण्ठस्थान

यजुर्वेद

रक्त समुद्र

पवन सृष्टि

स्वयंभू

गणपति स्थान

मूलाधार चक्र

प्राण स्वपरं मित्रं प्राण स्वपरं सखा ।

हठ

योग

प्राणतुल्यः परो बन्धुर्नास्ति नास्ति वरानने ॥

हठयोग के विभिन्न आसन, मुद्रा, बन्ध एवं षट्कर्म आदि का स्वास्थ्य पर लाभ, योगाभ्यास क्रम एवं सावधानियाँ

स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम है। स्थूल शरीर का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर बराबर समान रूप से पड़ता है। अतः स्थूल शरीर के अवलम्बन से सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालने की चित्तवृत्तिनिरोधक जितनी शैलियाँ हैं, उन्हें हठयोग के अन्तर्गत समाहित किया जाता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार हठात् मोक्ष द्वार का उद्घाटन करने वाली साधना पद्धति को हठयोग कहते है।[1] हठयोग का अर्थ है 'हकार' और 'ठकार' का योग। 'हकार' से सूर्यनाड़ी अर्थात् पिंगला नाड़ी का बोध होता है और 'ठकार' चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ानाड़ी का सूचक है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में हठयोग वह क्रिया है जिसमें इड़ा और पिंगला नाड़ी के सहारे प्राण (कुण्डलिनी शक्ति) को सुषुम्ना मार्ग से षट्चक्रों का क्रमशः भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर समाधिस्थ कर दिया जाता है।[2] ऐसा माना जाता है कि प्राण वायु मुख्य रूप से कुछ दिनों एक रन्ध्र से प्रवाहित होती है और कुछ दिनों दूसरे से। दोनों रन्ध्रों से प्रवाहित वायु मन की चंचलता का कारक है अतः कुम्भक के द्वारा वायु प्रवाह को रोककर सुषुम्ना में प्रवाहित करना ही 'ह' और 'ठ' का योग है तभी उच्च अवस्था बनती है और राजयोग की प्रवृत्ति होती है। हठयोग परम्परा के आदि आचार्य श्री आदिनाथ (भगवान शिव) है। इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक गोरक्षनाथ भी आदिनाथ को ही अपना आचार्य मानते हैं।[3] नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री गोरक्षनाथ थे। हठयोग

प्रदीपिका में स्वात्माराम ने मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ का नाम बड़े सम्मान से लिया है।[4] हठयोगप्रदीपिका में कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो स्वात्माराम को नाथ सम्प्रदाय की परम्परा में स्वीकार करते हैं, उन्हीं को साक्षात ईश्वर मानते हैं।[5]

हठप्रदीपिका में पाँच उपदेश है। प्रथम उपदेश में आदिनाथ और गोरक्षनाथ को नमन किया गया है। इसके बाद सिद्ध हठयोगियों की परम्परा का निर्देश किया गया है। इस उपदेश में अभ्यास में साधक और बाधक दोनों तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है और इसके अन्तर्गत पन्द्रह आसनों का वर्णन किया गया है– 1. स्वस्तिकासन, 2. गोमुखासन, 3. वीरासन, 4. कूर्मासन, 5. कुक्कुटासन, 6. उत्तानकूर्मासिन, 7. धनुरासन, 8. मत्स्येन्द्रासन, 9. पश्चिमोत्तानासन, 10. मयूरासन, 11. शवासन, 12. सिद्धासन, 13. पद्मासन 14. सिंहासन, 15. भद्रासन।

द्वितीय उपदेश में आसन और आहार की उपयोगिता, गुरू का महत्व, नाड़ीशोधन का महत्व, षट्कर्म (धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाँति) और प्राणायाम (सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लावनी) आदि पर विचार किया गया है।

तृतीय उपदेश में दस मुद्राओं का वर्णन किया गया है- 1. महामुद्रा, 2. महाबन्ध, 3. महावेध, 4. खेचरी, 5. उड्डियानबन्ध, 6. मूलबन्ध, 7. जालन्धरबन्ध, 8. विपरीतकरणी, 9. बज्रोली, 10. शक्तिचालन।

चतुर्थ उपदेश में समाधि की परिभाषा, कुण्डलिनी जागरण, नादानुसंधान आदि का उल्लेख है तथा पञ्चम उपदेश में होने वाली व्याधियों आदि पर प्रकाश डाला गया है।

आसन

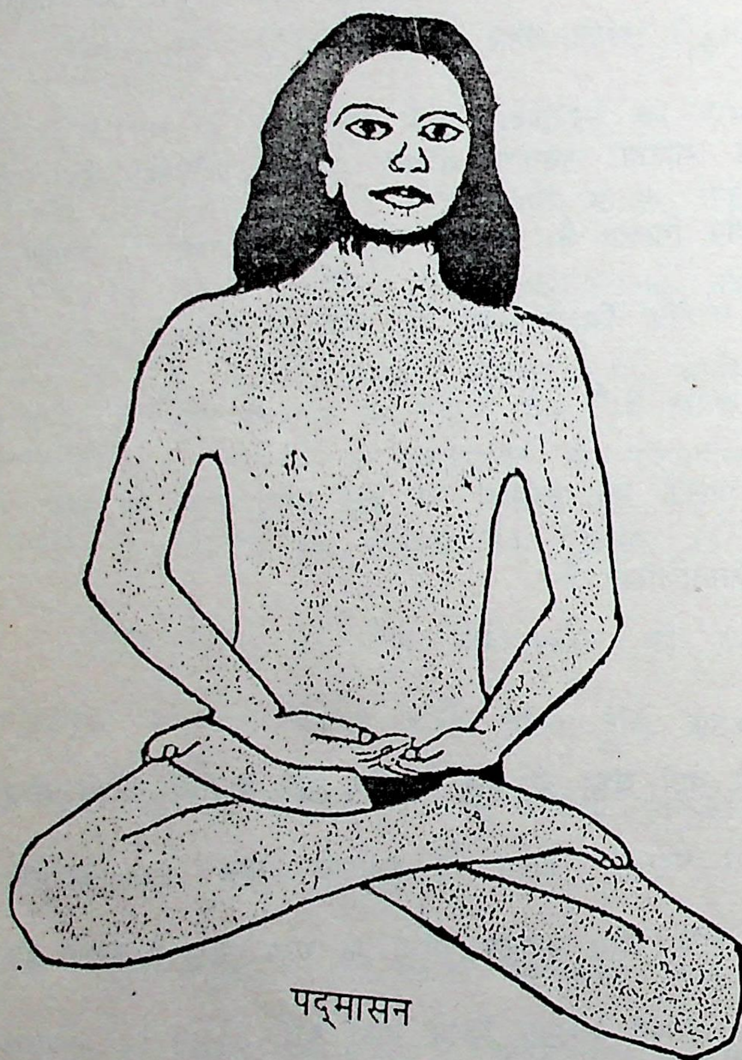
पतञ्जलि के अष्टांगयोग में 'यम' तथा 'नियम' के बाद तीसरा स्थान 'आसन' का है। समस्त वस्तुओं से उदासीन भाव ही आसन है।[6] स्थिरतापूर्वक सुखावह उपवेशन ही आसन है।[7]

शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, हठयोग संहिता, हठयोग प्रदीपिका तथा योग उपनिषदों में आसनों का वर्णन मिलता है। आसनों की निश्चित संख्या के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि जितने प्रकार के जीव हैं, उनके उठने बैठने की जितनी रीतियाँ हैं वे सभी आसन है।[8] योग विज्ञान को स्वास्थ्य विज्ञान के रूप में भी जाना जाता है। योग आसनों का स्वास्थ्य पर होने वाले लाभ की दृष्टि से अध्ययन किया गया है जो निम्नलिखित है -

1. पद्मासन :

आसन-विधि-- दाहिने पैर को बायें जंघा के मूल में और बायें पैर को दाहिने जंघा के मूल में जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। मेरूदण्ड, ग्रीवा, एवं सिर को सीधा रखकर दोनों हाथों को द्रोणि जैसा बनाकर जाँघों के मध्य भाग में रखते हुए 5 से 10 मिनट तक सुखपूर्वक इसका अभ्यास किया जाता है।

लाभ : यह आसन मेरूदण्ड को सबल तथा कमर के निम्न भाग की नसों और नाड़ियों को लचकदार एवं पुष्ट बनाता है। इससे पाचनशक्ति की वृद्धि होती है तथा कब्ज, गठिया, फील-पाँव आदि रोग दूर होते है। मांसपेशियाँ मुलायम हो जाती है। इस आसन में बैठकर भू-मध्य-भाग में ध्यान करने से चित्त के एकाग्र होने में सफलता मिलती है।



पद्मासन

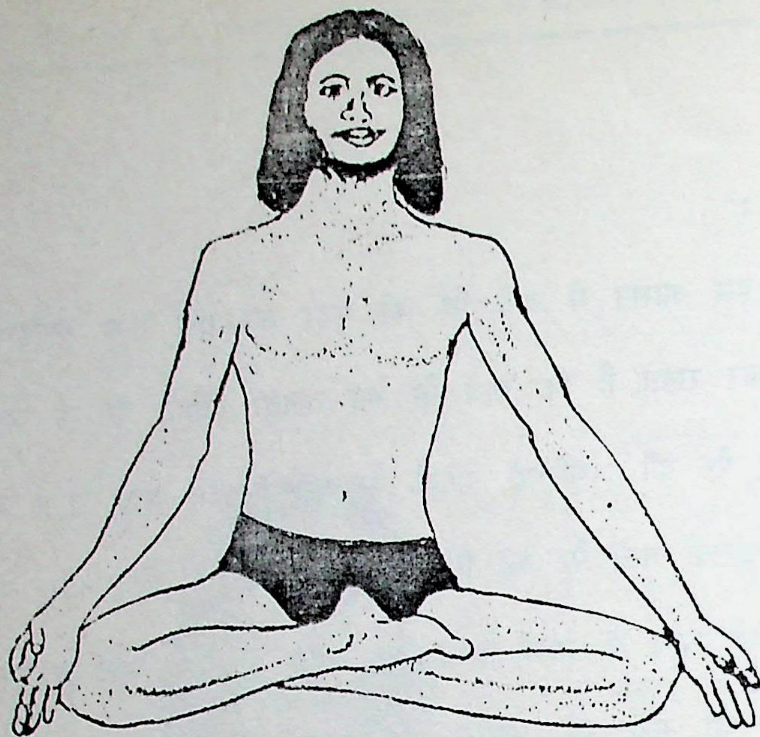
2. सिद्धासन :

आसन विधि- इस आसन में बायें पैर की एड़ी को गुदा तथा अण्डकोषों के बीच इस प्रकार जमाकर रखते हैं कि बायें पैर का तलवा दाहिने पैर के जंघा को स्पर्श करे अर्थात् बायें पैर की अंगुलियाँ दाहिने पैर की पिंडली तथा जंघा के बीच और दायें पैर की अंगुलियाँ बायें पैर की पिंडली तथा जंघा के बीच रहे। चेहरे की ठुड्डी को कण्ठ नीचे के भाग में स्पर्श करते हुए रखते हैं, इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं और इसके साथ ही गुदा को संकोच कर ऊपर की तरफ खींचते हैं- इसे मूल बन्ध कहते है। दोनों हाथों को सीधे घुटनों पर रखते हुए तर्जनी अंगुली को मोड़कर अंगुष्ठमूल में लगाकर शेष तीन अंगुलियों को भी थोड़ा मोड़ देते हुए, ऐसी मान्यता कि ऐसा करने से प्राण तत्त्व हाथों से वहिर्गमन नहीं कर सकेगा। सिद्धासन के अभ्यास में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि यह आसन ठीक ढंग से नहीं किया गया है तो मूत्रेन्द्रिय की सिराये दबाव पड़ते-पड़ते कमजोर हो जायेंगी।

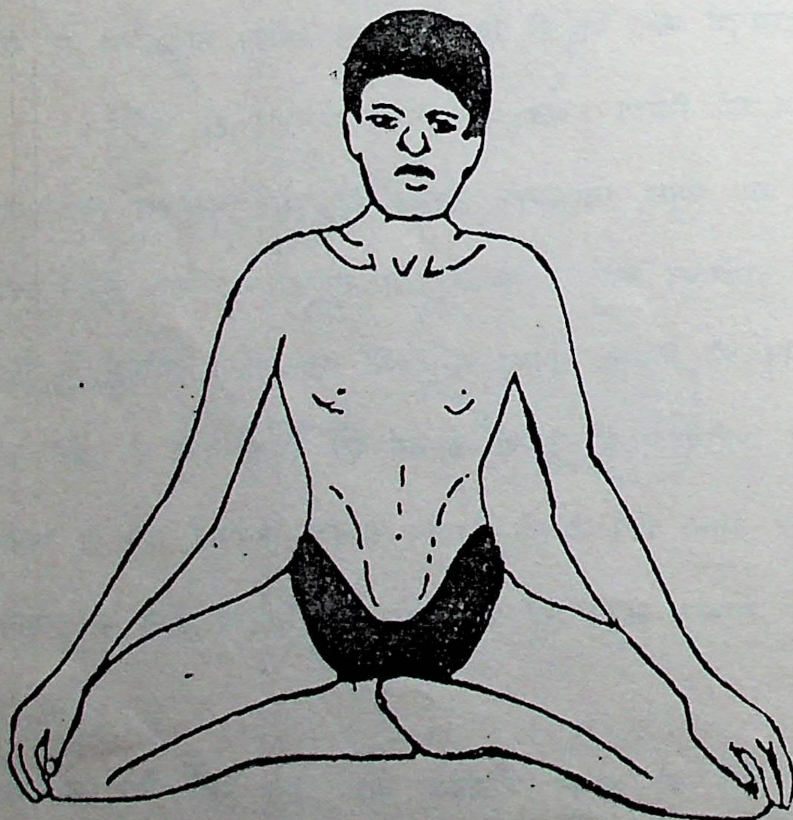
लाभ : सिद्धासन एक प्रमुख ध्यानात्मक आसन है। इसमें मूलबन्ध स्वतः लग जाने से प्राण तथा शुक्र उर्ध्वगमन करने लगते हैं और सुषुम्ना का मार्ग खुलने लगता है। प्राण इन्द्रिय और मन की स्थिरता उपस्थ में स्थित शुक्रवाहिनी नाड़ियों के एड़ी द्वारा दबाने से उत्पन्नं हुई शिथिलता के कारण ब्रह्मचर्य की दृढ़ता होती है, और कामनाओं बलवती उग्र कामेच्छा शान्त होने लगती है।यदि साधक नियमित रूप से मौन धारण करके दीर्घकाल तक अभ्यास करता रहे तो वह सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

3. भद्रासन :

आसन-विधि- दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठे। अब दोनों पैरों को साथ में मिलाते हुए इस प्रकार मोडे कि पैरों में अंगुठे भूमि पर और एड़िया नाभि मण्डल



सिद्धासन



भद्रासन

के नीचे समीप हो जायँ। एड़ियाँ और पंजे एक साथ सटे रहें। अब पैरों को धीरे-धीरे घुमाएँ कि अंगुलियाँ नितम्बों के नीचे और एड़ियाँ अंडकोशों के नीचे होकर सामने दिखाई दें। दोनों हथेलियों को घुटने पर इस प्रकार रखें कि अंगुलियाँ नीचे की तरफ लटकती रहे। भद्रासन की अवस्था में पेट अन्दर की ओर खिंचा होना चाहिए तथा सीना सामने निकला रहना चाहिए। शांडिल्योपनिषद् के अनुसार लिंगेन्द्रिय के नीचे की सीवनी पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वो को दृढ़तापूर्वक पकड़कर बैठने से भद्रासन होता है जो समस्त रोगों और विष आदि का नाशक है।[9]

लाभ : इसके अभ्यास से घुटने पैरों की अंगुलियाँ तथा कटि की संधियों की जकड़ाहट दूर होती है। जनेन्द्रिय तथा आस-पास की पेशियों का व्यायाम हो जाता है। कामोत्तेजना शान्त रहती है। अर्श, भगन्दर तथा प्रमेह आदि मूत्र रोग नहीं होते। यह आसन ब्रह्मचर्य पालन में सहायक होता है।

4. वीरासन :

आसन-विधि- बांयी टांग मोड़कर एड़ी को वाम नितम्ब के समीप इस प्रकार स्थापित करें कि वाम पैर का पंजा और घुटना भूमि को स्पर्श करे। पीछे दक्षिण पादतल को वाम घुटने के साथ मिला भूमि पर इस प्रकार रखें ताकि दक्षिण घुटना ऊपर खड़ा हो जाय। तत्पश्चात् बांयी हथेली को वाम घुटने पर रख लें। स्कन्धों को तानकर समकाय होकर बैठने को वीरासन करते हैं। त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद् में भी उल्लेख है कि एक चरण को बायी जांघ पर और दूसरे को दाहिनी जांघ पर रखने से वीरासन होता है।[10]



वीरासन

लाभ : इस आसन में बैठकर, भजन, आत्मचिन्तन तथा ईश्वर की क्रिया की जा सकती है इससे आलस्य प्रमाद नहीं होता।

5. स्वस्तिकासन :

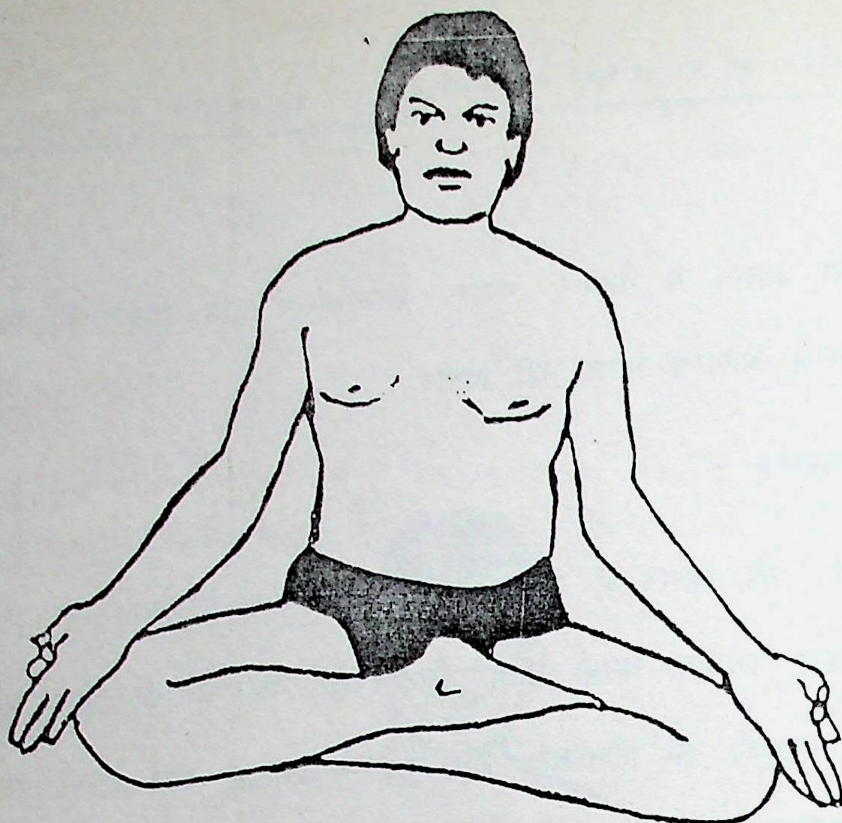
आसन-विधि- इस आसन में जानु (घुटना) और जंघा के मध्यस्थल में दोनों पाद को भली प्रकार स्थापित करके ग्रीवा, छाती और मेरूदण्ड को सीधा करके बैठना चाहिए। दोनों बाहुओं को फैलाकर, ज्ञान मुद्रा में बांधकर दोनों घुटनों पर रख लें। त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद[11] और शांडिलयोपनिषद्[12] में भी इसका उल्लेख मिलता है।

लाभ: यह समस्त पापों का नाशक है। इस सुगम एवं सुखद आसन का अभ्यास करके देर तक बैठने से प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि साधना में शीघ्र सिद्धि मिलती है।

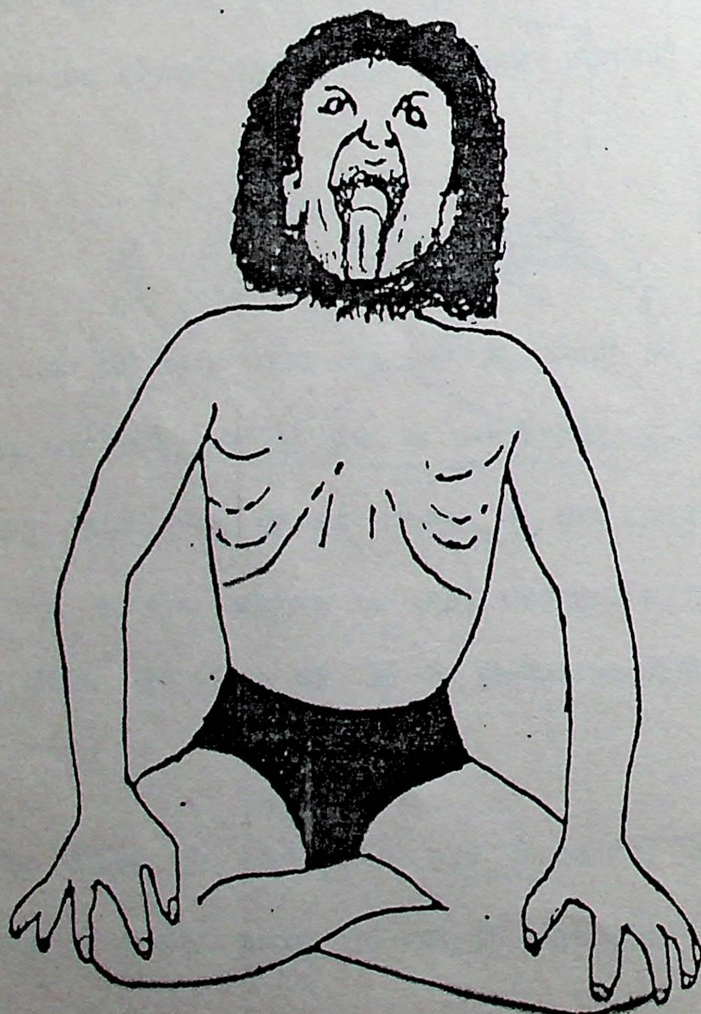
6. सिंहासन :

आसन-विधि- दोनों पैरों को नितम्बों के नीचे इस प्रकार जमावे कि बांया पैर दायें नितम्ब के नीचे और दायाँ पैर बायें नितम्ब के नीचे आ जाय, फिर दोनों हाथों को पेट क़ी ओर अंगुलियाँ करके जंघा पर जमावें। पेट को अन्दर खींचते हुए, छाती को बाहर निकाले हुए, मुँह को खोलकर जिह्वा को बलपूर्वक बाहर की ओर निकाल ठोढ़ी पर जमा दें।[13] त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद् में भी इस आसन का उल्लेख मिलता है।[14]

लाभ: बाहु और पैरों का शक्तिशाली होना, गर्दन, कटि और सीवनी आदि की शुद्धि, हकलाना बन्द होना आदि लाभ सिंहासन के सम्यक् अभ्यास से प्राप्त होते है।



स्वतिकासन



सिंहासन

7. मयूरासन :

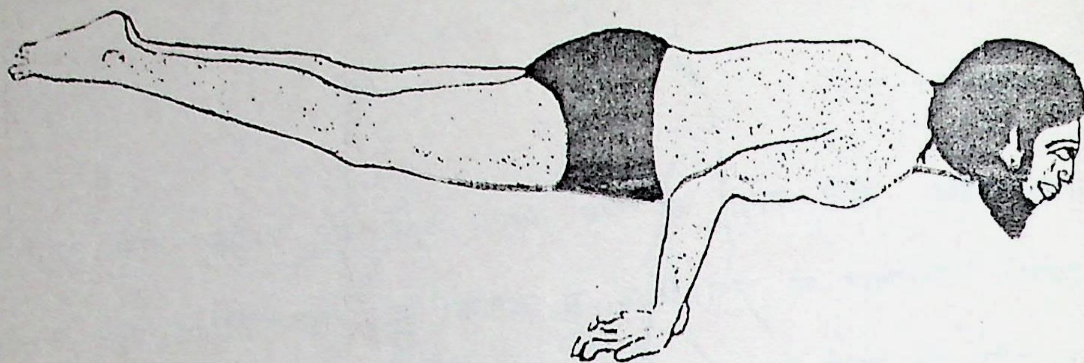
आसन-विधि- दोनों हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर दोनों हाथों की कोहनियाँ नाभिस्थान के दोनों पार्श्व से लगाकर मूल तथा उड्डियान बन्ध के साथ सारे शरीर को उठाये रहने पर मयूरासन तथा पाँव जमीन पर लगे रहने से हंसासन बनता है।[15]

लाभ : जठराग्निका प्रदीप्त होना, भूख लगना, उदर रोगों (गुल्म-कब्जादि) में लाभ होता है और शरीर निरोग रहता है। वस्ति के पश्चात् इसके करने से पानी तथा आँव जो पेट में रह जाता है, वह निकल जाता है इस आसन के समुचित अभ्यास से मेरूदण्ड सीधा होता है।

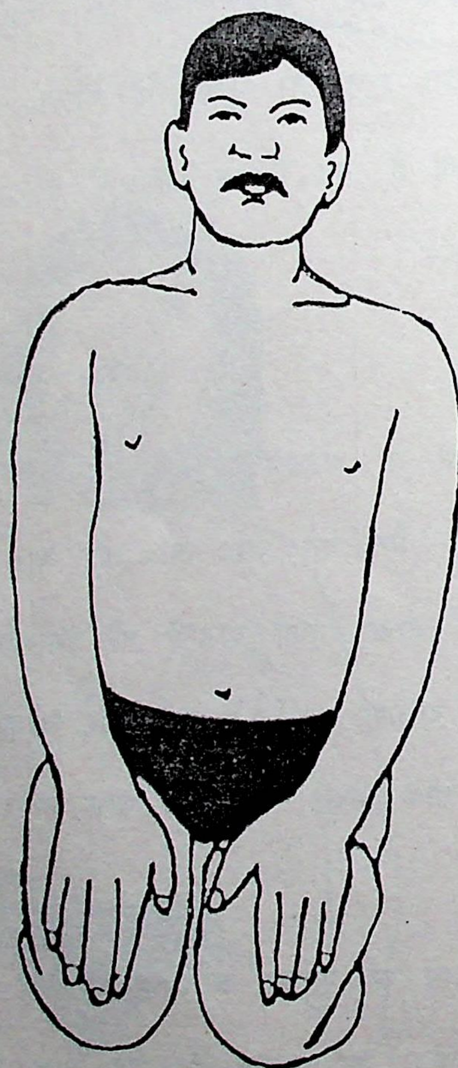
8. वज्रासन :

आसन-विधि- दोनों जाँघों के आन्तरिक भाग को दोनों पिण्डलियों से मिलकार, मुड़े घुटनों को आगे और पैरों को पीछे की ओर मोड़कर वज्राकृति बनाते हुए नितम्बों से कुछ आगे ले जाकर दोनों एड़ियों को मिलाकर नितम्बों को इस पर टिका कर बैठ जायें एवं दक्षिण हाथ की दायें और वामहस्त की बाँय घुटने पर हथेलियाँ रखकर समकाय ग्रीव होकर बैठ जायें तथा दृष्टि को सामने आकाश में रखें।

लाभ : इस आसन से ध्यान को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। इसे भोजन करने के तुरन्त बाद भी किया जा सकता है। यह पाचन-शक्ति को बढ़ाता है। इसके नियमित अभ्यास से पाँवों का बेढंगापन सुधर जाता है। यह अतिसार, पीठ-दर्द तथा छाती के कष्टों को दूर करता है। वृद्धावस्था की शिथिलता को रोकता है।



मयूरासन



वज्रासन

इससे मानसिक निराशा तथा स्मरण-शक्ति का ह्रास दूर होता है। स्त्रियों के मासिकधर्म सम्बन्धी दोषों को दूर करने में भी हितकारी है।

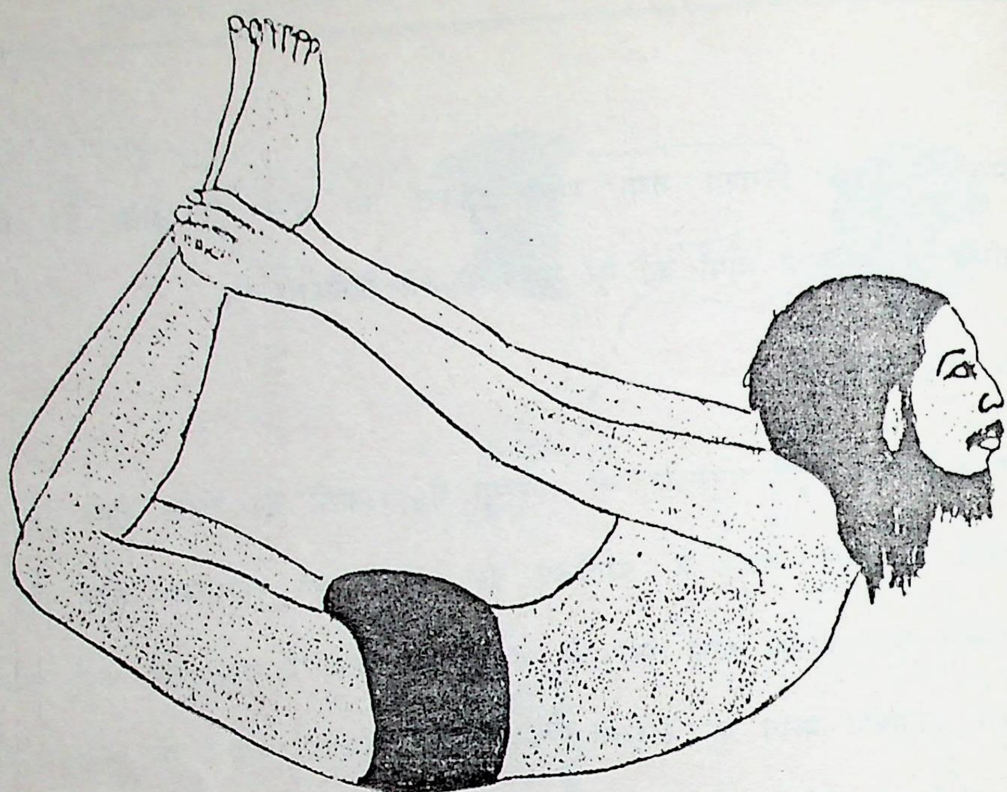
9. धनुरासन :

आसन-विधि- पूर्ण धनुरासन की अवस्था में अभ्यासी का शरीर खिंचे हुए धनुष के आकार का बन जाता है, इसीलिए इस आसन को धनुरासन कहते हैं। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार दोनों पैरों के अंगुठों को हाथ से पकड़कर कर्ण पर्यन्त धनुष समान आकर्षण करने को धनुरासन कहते हैं।[16] घेरण्ड संहिता के अनुसार दोनों पैरों को पृथ्वी पर सीधा फैलाकर दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनों पैरों को पकड़कर शरीर को धनुषाकार स्थिति में लाने को धनुरासन कहते हैं।[17]

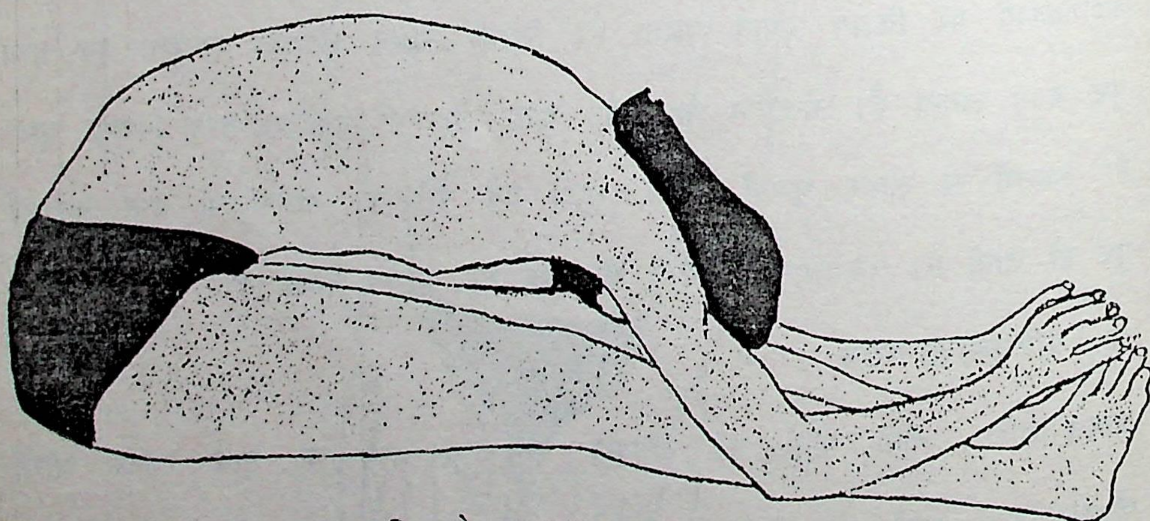
लाभ : इस आसन में मेरुदण्ड तथा उदर पर विशेष दबाव पड़ने से रीढ़ की कशेरुकाओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जिससे समस्त मेरुदण्ड लचीला दृढ़ तथा पुष्ट बनने लगता है। मन्दाग्नि नहीं होने पाती, उदर में एकत्रित वायु निकल जाती है। स्कन्धों से लेकर भुजाएँ, जाँघ, घुटने एवं पैरों की मांसपेशियाँ तथा नाड़ियाँ पुष्ट हो जाती है। रक्तचाप के रोगी के लिए यह आसन वर्जित है।

10. पश्चिमोत्तानासन :

आसन-विधि- दोनों पाँवों को उड्डियान तथा मूल-बन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलायें। दोनों हाथों की अंगुलियों से दोनों पैरों की अंगुलियों को खींचकर शरीर को झुकाकर, माथे को घुटने पर टिका दें। यथाशक्ति वहीं पर टिकाये रहें। प्रारम्भ में दस-बीस बार शनैः-शनैः रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर लें जाँय और इसी प्रकार पूरक करते हुए सामान्य स्थिति में आना होता है।



धनुरासन



पश्चिमोत्तानासन

लाभ : पाचनशक्ति में अभिवृद्धि, कोष्ठबद्धता, स्नायु, कमर तथा पेट की नाड़ियों की शुद्धि इत्यादि लाभ इस आसन के सम्यक् अभ्यास से प्राप्त होते हैं।

11. कुक्कुटासन :

आसन-विधि- पद्मासन में बैठने के उपरान्त दोनों जंघाओं और पिण्डलियों के मध्य में से दोनों हाथ, दोनो कोहनियों तक बाहर निकालकर तथा हथेलियों को भूमि पर टिकाकर दोनों हाथों के बल आकाश में स्थिर रहने पर कुक्कुटासन की स्थिति बनती है। त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद् और घेरण्ड संहिता के अनुसार दोनों भुजाओं को जंघाओं के मध्य से निकालकर उस पर सम्पूर्ण शरीर का भार आकाश में वहन करना ही कुक्कुटासन कहलाता है।[18]

लाभ : इसके अभ्यास से भुजाओं में दृढ़ता आती है, जाठराग्नि प्रदीप्त होती है एवं उदर कृमि, तथा हाथ पैरों की दुर्बलता का नाश होता है।

12. कूर्मासन :

आसन-विधि- दोनों टाँगों के घुटनों को मोड़कर पैरों को पीछे करके इस प्रकार बैठे कि टखने भूमि पर टिक जायें और एड़ी नितम्बों के समीप आ जाय फिर आगे झुक्कर दोनों कोहनियों को दोनों जानुओं के समीप भूमि पर स्थापित कर दें। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर रखते हुए श्वास की गति सूक्ष्म कर दें।

लाभःइस आसन में मूलबन्ध स्वाभाविक रूप से लग जाता है अतः प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी उत्थान शीघ्र होता है।इसके अभ्यास से अर्श तथा भगन्दर रोग नहीं होते।

13. गोगुखासन :

आसन विधि- सर्वप्रथम भूमि पर पलथी मारकर बैठें फिर बाँयें पाँव को मोड़कर दायी जाँघ पर से लाते हुए, बायें पाँव की एड़ी को दक्षिण जंघा के पार्श्व में



कुक्कुटासन



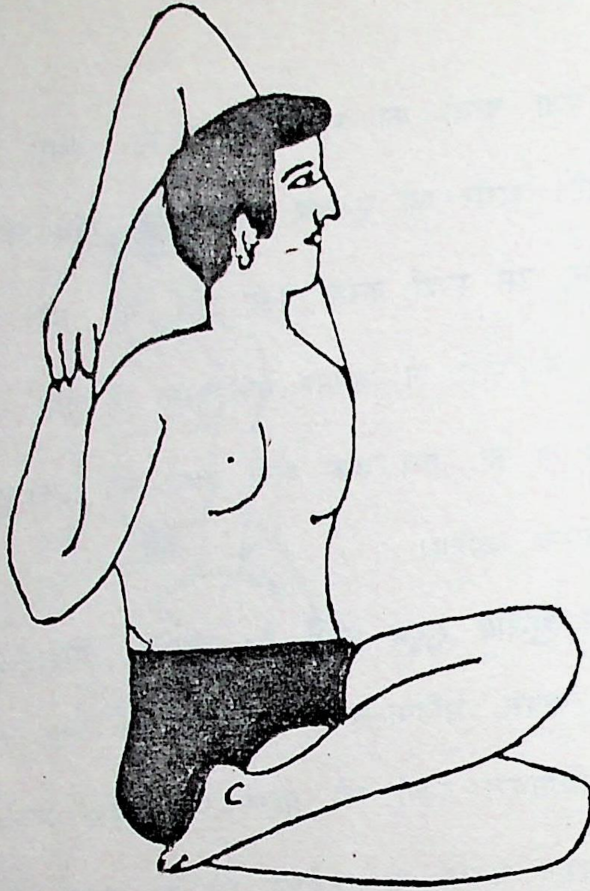
कुर्मासन

रखें। बायें पाँव का पंजा पृथ्वी का स्पर्श करता रहे। इससे दोनों घुटने लगभग एक-दूसरे पर आ जायेंगे। शरीर को एकदम सीधा रखें। दाँयें पाँव का तलवा बायीं जाँघ की सन्धि के पास, उसे स्पर्श करता हुआ रहे। अब, बाँयें हाथ दाँये हाथ की तर्जनी अँगुली को पीठ के पीछे ले जाकर एक-दूसरे में गुंथा दें। प्रारम्भ में जब तक ऐसा करना सम्भव न हो, तब तक दोनों हाथों को एक-दूसरे के समीप ले जाकर छूने का प्रयत्न करना चाहिए।

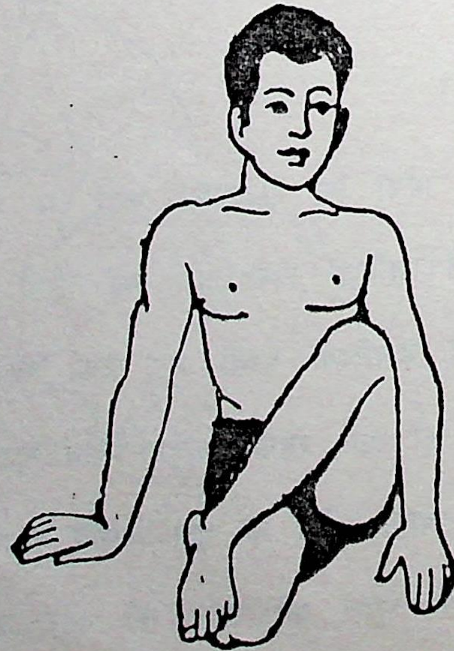
लाभ : इस आसन से भुजाएँ सुदृढ़ होती हैं। मधुमेह, प्रमेह, प्रदर, धातु-दौर्बल्य, स्वप्न-दोष, शुक्र-तारल्य, अपच, गठिया-वात, पीठ का दर्द तथा अन्य वात-रोग दूर होते है। यह गुर्दे के विषाक्त द्रव्यों को बाहर निकालकर, रूके हुए पेशाब को बाहर लाता है। यह आसन कन्धों के कड़ेपन को दूर करता है तथा आंतों की बीमारियों में भी बहुत लाभकारी है। इस अभ्यास से छाती चौड़ी होती है तथा मूल-बन्ध स्वयं ही लग जाता है।

14. मत्स्येन्द्रासन :

आसन-विधि- दोनों पाँवों को फैलाकर फर्श पर बैठ जायें। घुटने, एड़ियाँ तथा पंजे परस्पर मिले रहने चाहिए। दोनों हाथों को जाँघों के ऊपर वाले भाग के समीप पृथ्वी पर रखें अर्थात् हथेलियाँ पृथ्वी पर टिकी रहें। हाथों की अंगुलियाँ परस्पर मिली हुई तथा बाहर की ओर रहनी चाहिए। दाँयें घुटने को मोड़कर पृथ्वी पर रखें तथा उसके तलवे को बायीं जाँघ के मूल अर्थात् सबसे ऊपरी भाग में मजबूती से रखें तथा बायें पाँव के घुटने को ऊपर की ओर उठाकर उसके तलवे को दाँयें घुटने की दायीं ओर पृथ्वी पर रखें।[19]



गोमुखासन



मत्स्येन्द्रासन

लाभ : मत्स्येन्द्रासन के अभ्यास से कटि, पृष्ठ, पाद, उदर, भुजा एवं नाभि के निचले भाग तथा छाती के स्नायुओं का अच्छा खिंचाव होता है जठराग्नि प्रदीप्त होती है और उदर रोग, आम वात, परिणाम-शूल रोग नष्ट होते हैं।

15. शवासन :

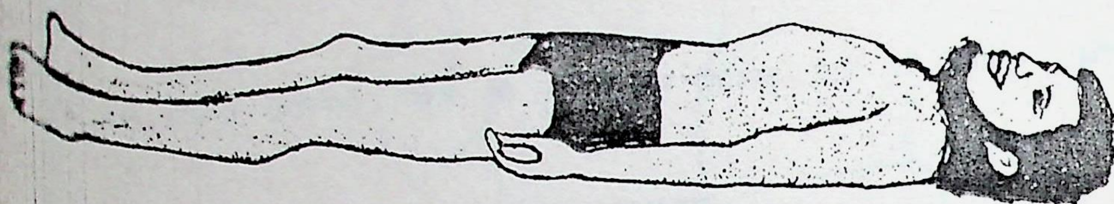
आसन-विधि- जमीन पर शव अर्थात् मृत शरीर के समान निश्चेष्ट होकर लेट जाना शवासन कहलाता है।[20]

लाभ : इस आसन से शरीर के अङ्ग.-प्रत्यङ्ग. को पूर्ण विश्राम मिल जाता है। यह अभ्यास यात्रा, जागरण, अधिक काम-काज, खेल-कूद, योगासन आदि के अभ्यास अथवा अन्य किसी भी कारण से आई हुई थकान को दूर कर देता है। अनिद्रा-रोग में यह बहुत लाभकर है। चिंता, भय, शोक आदि अवस्थाओं में भी इसके प्रयोग से चित्त को शान्ति प्राप्त होती है।

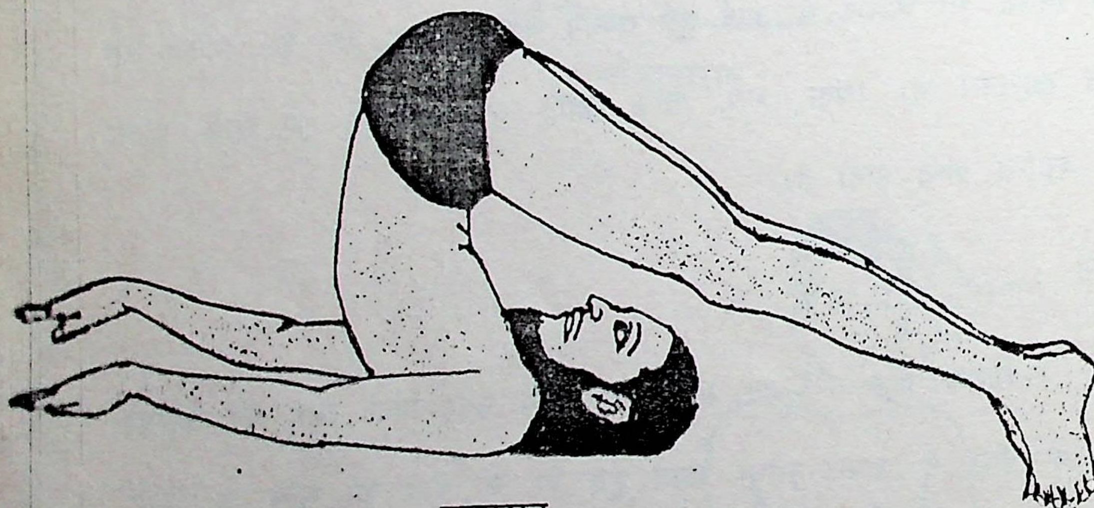
16. हलासन :

आसन-विधि- सर्वप्रथम पीठ के बल सीधे लेट जायें और दोनों टांगों को परस्पर मिलकार सिर के पीछे से जाकर सीधा रखते हुए पैर के पंजों को भूमि पर टिका दें। भूमि पर पड़ी हुई सीधी भुजाओं के हाथों को आगे बढ़ाकर अंगुलियों को परस्पर गूँथ दें और दोनों भुजाएँ कस दें।[21]

लाभ : इस आसन के अभ्यास से यौन-ग्रन्थियों का दोष दूर होता है तथा काम शक्ति की कमी व नपुंसकता सम्बन्धी विकृतियाँ दूर होती हैं, मुखमण्डल कान्तिपूर्ण बनाता है तथा पेट, छाती तथा फेफड़ों के अनेक रोगों को भी दूर होते है।



शवासन



हलासन

यह आसन रक्त-संचरण को नियमित करता है। इससे मधुमेह रोग समूल नष्ट हो जाता है। इससे मनुष्य की प्रज्ञा तथा बुद्धि भी तीव्र होती है। 'कुण्डलिनी' को जागृत करने में इस आसन से बहुत सहायता मिलती है।

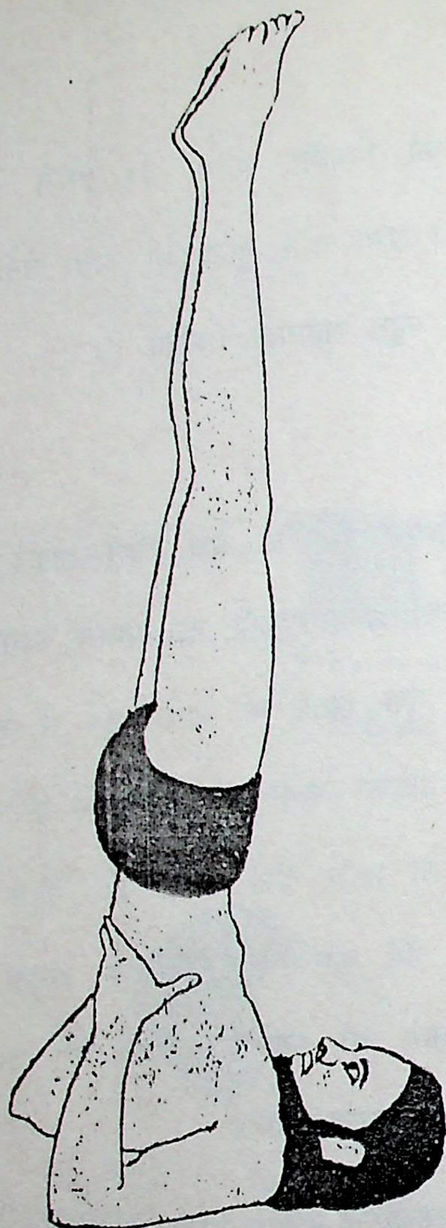
17. सर्वांगासन :

आसन-विधि- इस आसन में सर्वप्रथम पीठ के बल चित्त होकर लेट जाँय तथा दोनों पैर परस्पर जुड़े रहें। अब कन्धों से पैरों तक का समस्त भाग ऊपर की ओर सीधा उठायें। दोनों भुजाएँ कोहनियों तक दृढ़ता के साथ भूमि से जुड़ी रहें। इसके बाद कोहनी के मोड़ से हाथों को उठाकर कमर को पकड़कर कन्धों से पैरों तक सम्पूर्ण शरीर को सीधा तान दें। समस्त शरीर दोनों कन्धों और ग्रीवा पर आ जाय। इस प्रकार टांगों को सीधा रखते हुए पैरों को मिलाएँ, पैरों के अंगूठों को नाक की सीध में रखते हुए हाथों से कटि भाग को पकड़कर साधे रहें। इस प्रकार यथा शक्ति इसी स्थिति में रहने का अभ्यास करना चाहिए।

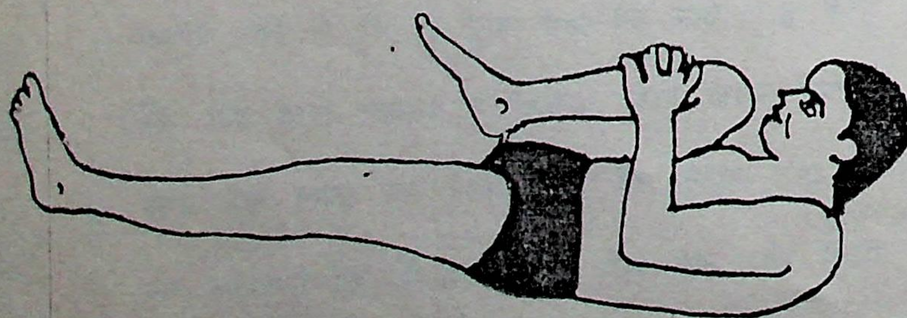
लाभ : कोष्ठबद्धता दूर होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा अजीर्ण, प्लीहा, यकृत व अन्य रोगों की निवृत्ति होती है।

18. पवनमुक्तासन :

आसन-विधि- चित्त लेटकर पूरक द्वारा उदर को प्राण वायु से भर लें फिर दक्षिण घुटने को मोड़कर उदर पर स्थापित करके दोनों भुजाओं में कसकर इससे उदर को दबाएँ सिर को उठाकर नासिका द्वारा घुटने को स्पर्श करने का प्रयत्न करें तथा दूसरी फैली हुई पैर भूमि से मिली रहे। अब इसी प्रकार हाथ-पैर को बदलकर भी करें। इसे पवन मुक्तासन कहते हैं।



सर्वांगासन



पवनमुक्तासन

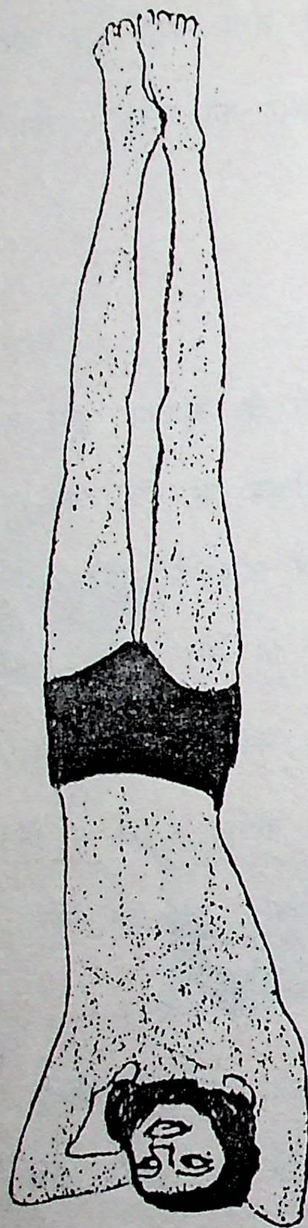
लाभ : यह बहुत ही सरल आसन है तथा वृद्धों एवं महिलाओं के लिये भी उपयोगी है। इसके निरन्तर अभ्यास से शरीर की जकड़न, तनाव, थकान तथा साँस फूलना आदि दोष दूर होते हैं।

19. शीर्षासन :

आसन-विधि- सर्वप्रथम कोई मुलायम गद्दी या तकिया भूमि पर रखकर हाथ की अंगुलियों को हथेली की ओर फैलाकर तकिये पर रखे, उस पर सिर को रखकर पैरों को उठाते हुए शरीर का भार धीरे-धीरे कोहनियों और हथेलियों पर डालते हुए पैरों को आकाश की ओर ले जाकर सिर के बल शरीर को तानकर खड़ा करने का प्रयत्न करें। इस तरह शरीर का भार कोहनियों, हथेलियों और सिर पर आ जाता है। आरम्भ में शीर्षासन को प्रतिदिन केवल 3 से 5 मिनट तक ही करना चाहिए। जब अभ्यास भली-भाँति सिद्ध हो जाय, तब 30 मिनट तक भी शीर्षासन की स्थिति में रहा जा सकता है।

योगासनों में शीर्षासन को सर्वोत्तम माना गया है, परन्तु यहीं सबसे कठिन आसन भी है। गलत तरीके से अभ्यास करने पर, इससे लाभ की अपेक्षा हानि पहुँचने की सम्भावना अधिक रहती है। सामान्य रूप से स्वस्थ व्यक्तियों को ही इसका अभ्यास करना चाहिए कर्णरोग, रक्तचाप सम्बन्धी विकार, हृदयदौर्बल्य, मस्तिष्क दौर्बल्य, शिरोदाह, उन्माद, अनिद्रा से ग्रस्त व्यक्तियों तथा गर्भवती व रजःस्वला स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

लाभ : यह आसन विशेष रूप से नाड़ी संस्थान तथा पाचन संस्थान को प्रभावित करता है। यह बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा तथा स्मरण-शक्ति को बढ़ाता है। मधुमेह, बहुमूत्र,



शीर्षासन

प्रमेह, उन्माद, धातु दौर्बल्य, शुक्र तारल्य, स्वप्नदोष आदि को दूर करता है। स्त्रियों के गर्भाशय सम्बन्धी विकारों को मिटाता है। शरीर में रक्त संचरण को नियमित बनाकर, अंग प्रत्यंग को क्रियाशील बनाता है। यह आत्मविश्वास, स्फूर्ति तथा उत्साह की वृद्धि करता है।

इस आसन के सम्यक् प्रयोग से अनिद्रा, अपच, कब्ज तथा उदर-विकार दूर होते हैं। मल-निष्कासन भली प्रकार होता है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी दोष ठीक हो जाते हैं।

बन्ध

हठयोग की क्रियाओं में बन्ध, मुद्रा एवं षट्कर्म का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। हठयोग में तीन बन्धों की गणना मुद्राओं के अन्तर्गत की जाती है। हठयोग प्रदीपिका में दस मुद्राओं के अन्तर्गत ही इनकी गणना करते हुए कहा गया है कि ये दशों जरामरणनाशक हैं।[22] अन्य मुद्राओं की भाँति इन तीन बन्धों का उद्देश्य भी सुषुम्ना के द्वार को ढक कर सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करना है।[23] इसीप्रकार आयुर्वेदीय पंचकर्म के समान यौगिक षट्क्रियायें अन्तःशोधन की विधियाँ हैं। इसलिए योग पद्धति में शरीर के अन्तः तथा बाह्य मार्गों की शुद्धि के लिए बन्ध, मुद्रा एवं षट्कर्म का ज्ञान आवश्यक है।

मूलबन्ध :

विधि- गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूलबन्ध है। बाएँ पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्यभाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कन्द के मध्य भाग का दृढ़तापूर्वक संकोच

करते हुए अधोगत अपानवायु को बलपूर्वक धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं।[24] सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

लाभ : इससे अपानवायु का ऊर्ध्व-गमन होता है और वह प्राण वायु के साथ एकत्र होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्धता दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्वरितस बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है।

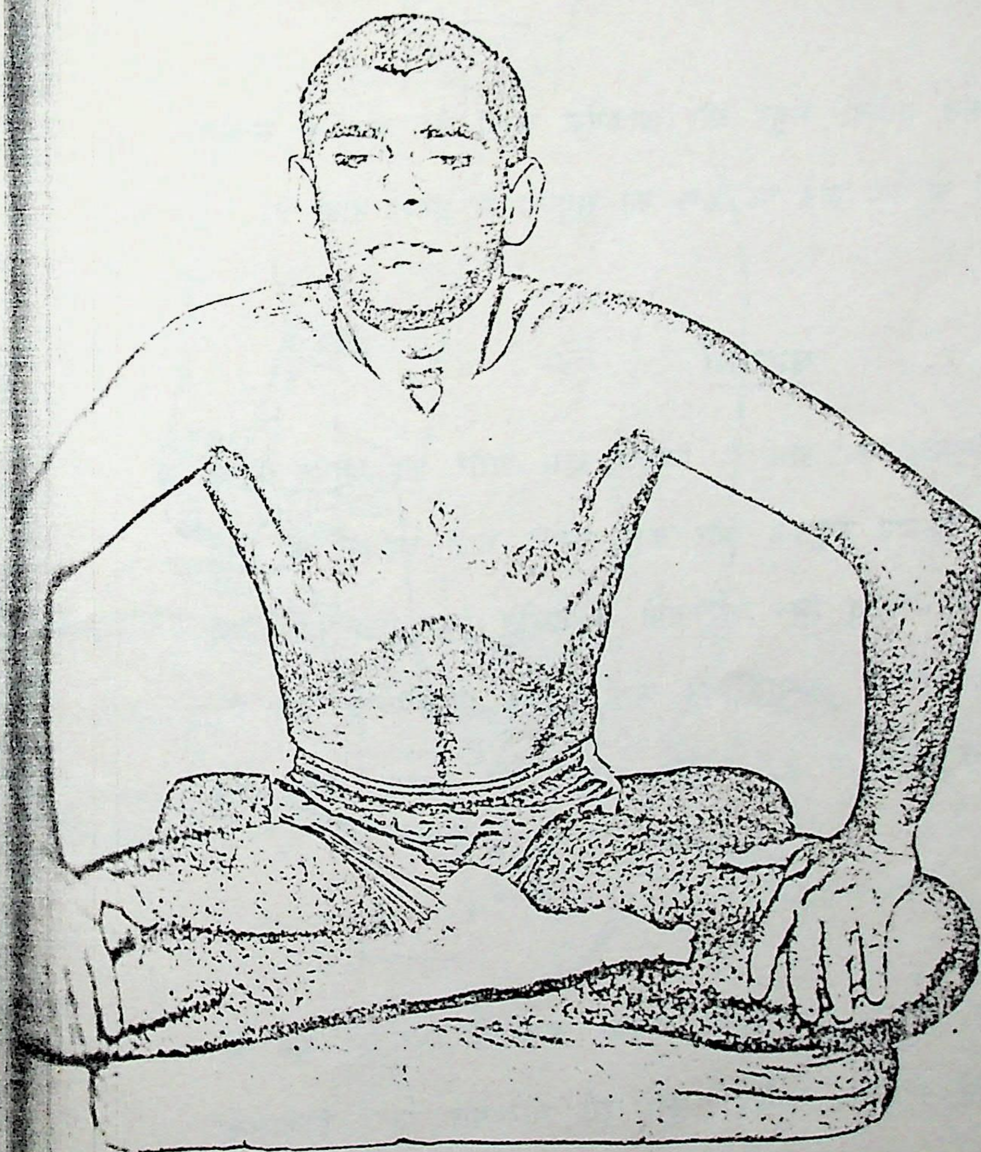
उड्डीयानबन्ध :

विधि दोनों जंघाओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर मिलाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से लगा दें जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना ही पेट को अन्दर की ओर अधिक खींचा जायेगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है।[25] यह बन्ध पैरों के तलुओं को बिना मिलाये हुए भी किया जा सकता है।

लाभ : इस बन्ध के समुचित अभ्यास से प्राण और वीर्य का उर्ध्वगमन होने लगता है, जठराग्नि का प्रदीप्त होती है और फेफड़े शक्तिशाली बनते हैं।

जालन्धर बन्ध :

विधि कंठ को सिकोड़कर ठोडी को दृढ़तापूर्वक कंठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोडी का अन्तर केवल चार अंगुल का रह जाय, सीना आगे की



उड्डीयानबन्ध

ओर तना रहे। यह बन्ध कंठस्थान के नाड़ी-जाल के समूह को बाँधें रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर बन्ध रखा गया है।[26]

लाभ- हठयोगप्रदीपिका के अनुसार यह जरा तथा मृत्यु का नाशक है। जालन्धर बन्ध में ऊर्ध्वश्वास पथ, स्वर नलिकायें तथा मस्तिष्कगत रक्त वाहिनियाँ प्रभावित होती है।[27]

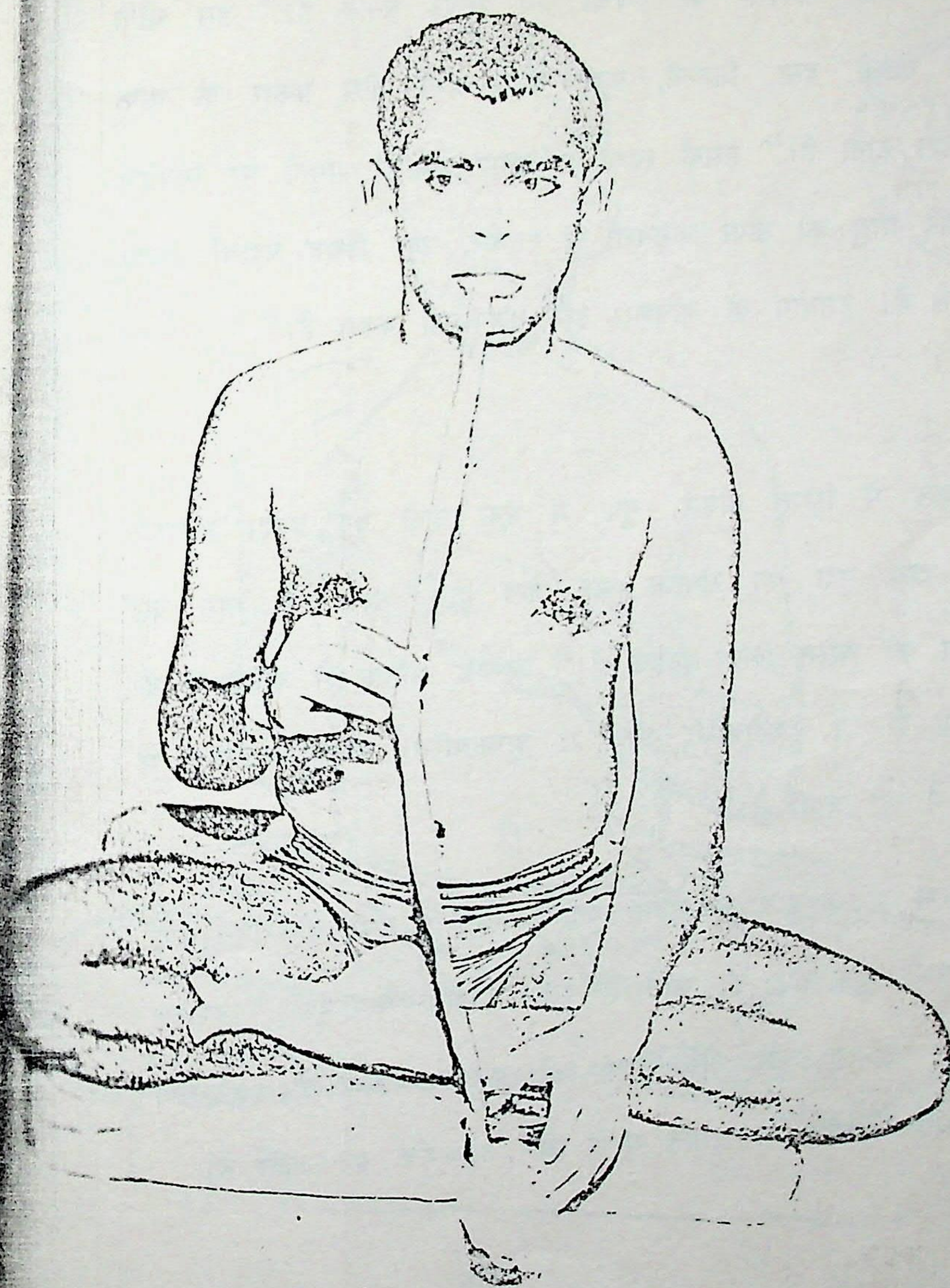
इसके अभ्यास से कंठ सुरीला, मधुर और आकर्षक बनता है। कंठ के संकोच द्वारा इड़ा, पिंगला नाड़ियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश होता है।

षट्कर्म

षट्कर्म उन छः क्रियाओं का नाम है, जिसके द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है। यह छः शोधन क्रियाएं स्थूलता और कफ प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए विशेष रूप से लाभकारी है। किन्तु जिन व्यक्तियों में त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उन्हें इन क्रियाओं के अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। यह छः शोधन क्रियाएं इस प्रकार से है - धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[28]

1. धौति :

विधि- चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा कपड़ा जल में भिगोकर गुरु के निर्देश के अनुसार धीरे-धीरे निगलना चाहिए। पुनः इसे धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए इसे धौति-क्रिया कहते हैं।[29] घेरण्ड-संहिता के अनुसार अन्तःधौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है।



धौति

लाभ : इसके लाभ रोगी स्वशरीर को स्वच्छ एवं सुन्दर बनाते हैं।[30] इस धौति क्रिया के फलस्वरूप खांसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य बीस प्रकार के कफ सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।[31] इसके साथ ही क्रमशः नाड़ी समूहों पर नियंत्रण पाकर साधकगण अपान वायु को ऊपर कंठनली में लाकर, उदर स्थित पदार्थों (अन्य आदि) का वमन करते है। हठयोग के जानकार इसे गजकरणी कहते हैं।[32]

2. वस्ति :

विधि- नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर, गुदा में एक नली का प्रवेश कराकर उत्कटासन में साधक द्वारा गुदा का संकोच कर जल द्वारा अन्दर के भाग का शोधन करने की क्रिया को वस्ति क्रिया कहते हैं।[33] घेरण्ड संहिता में बस्तिकर्म दो प्रकार का बताया गया है- 1. जलबस्ति और 2. शुष्कबस्ति। जलबस्ति जल में और शुष्कबस्ति स्थल में की जाती है।[34]

लाभ : इस बस्ति क्रिया के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष नष्ट हो जाते हैं इससे त्रिदोषों का पूर्णतः निवारण हो जाता है तथा धातु, इन्द्रिय और अन्तःकरण की प्रसन्नता होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर कामदेव के समान सुन्दर और आकर्षक बन जाता है।

3. नेति :

विधि- चिकनी और लगभग नौ इंच लम्बी सूत से बनी सूत नेति को नासिका में डालकर उसे मुख से बाहर निकालना ही नेति कर्म कहलाता है।[35]

लाभ : इस क्रिया के अभ्यास से कपाल प्रदेश की शुद्धि होती है। यह दिव्यदृष्टिप्रदायिनी है। इससे स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोग समूहों का नाश



नेति

होता है। इसके साधन से खेचरी मुद्रा की सिद्धि तथा कफ-दोष निवृत्ति और दिव्यदृष्टि उपलब्ध होती है।[36]

4. त्राटक :

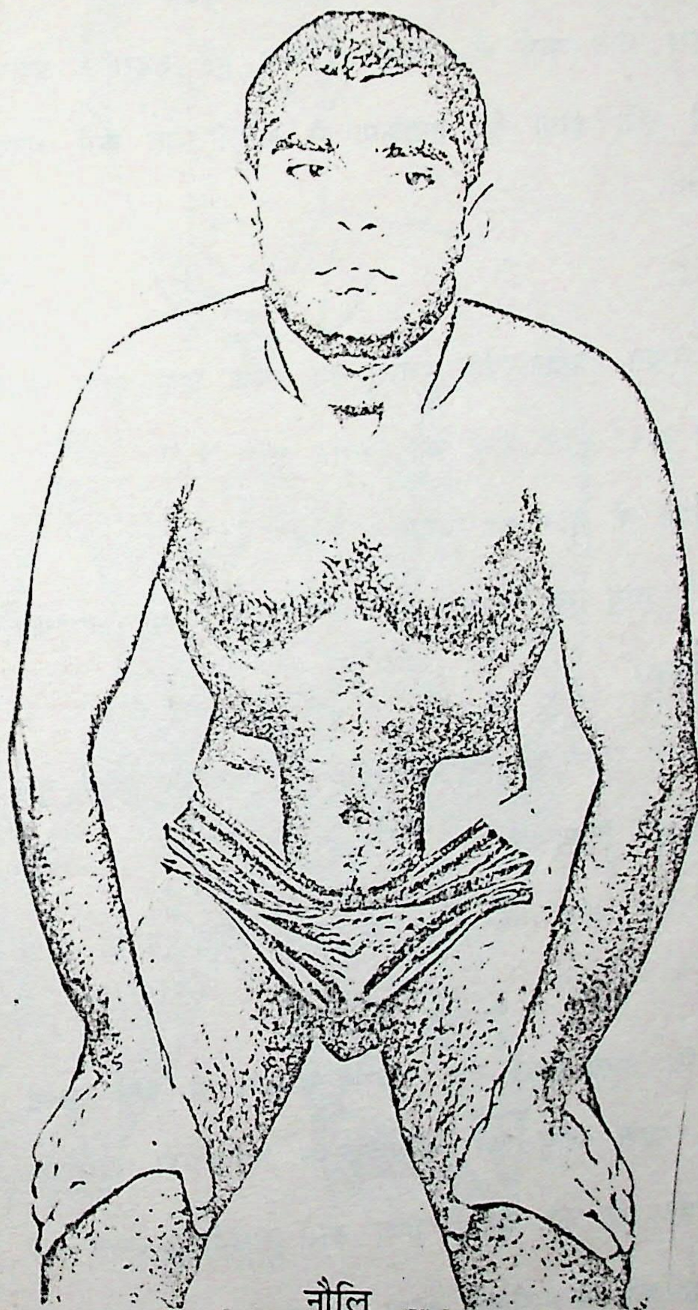
विधि- स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना जब तक आँख से आँसू न आ जाय इसे आचार्यो द्वारा यह त्राटक कर्म कहा गया है।[37] इस क्रिया में अपनी दृष्टि को किसी भी सूक्ष्म पदार्थ पर केन्द्रित करना चाहिए। यदि किसी वृक्ष के पत्तों पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया जाय तो नेत्रों की ज्योति बढ़ती है।

लाभ- इसके सिद्ध होने पर मनुष्य की एकाग्रता बढ़ती है तथा वह किसी भी प्राणी को वशीभूत कर सकता है। इस त्राटक के द्वारा नेत्र रोगों का नाश होता है तथा तन्द्रा आदि की निवृत्ति होती है। अतः इस त्राटक को सोने की पेटी के समान महत्व देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए।[38]

5. नौलि :

विधि- स्कन्ध प्रदेश को (60 अंश) आगे की ओर झुकाकर तीव्र वेग वाले भंवर के समान उदर के दायें भाग को वाम भाग तथा वाम भाग को दाहिनी तरफ वेग पूर्वक घुमाने की क्रिया को सिद्धों ने नौलिकर्म कहा है।[39]

नौलिक्रिया करने से पूर्व उड्डीयानबन्ध अवश्य लगाना चाहिए। इस क्रिया को करने से पहले सीधे खड़े होकर, दोनों पांवों में एक फुट के लगभग दूरी रखकर, दोनों हाथों से दोनों पांवों के घुटनों को दबाते हुए वायु का रेचन कर पेट को पिचकाकर मेरुदण्ड से लगाना चाहिए। इस क्रिया के पश्चात् नल तथा नाभि प्रदेश के ऊपर उठाने का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया के 40 दिन अभ्यास करने के



नौलि

बाद नल तथा नाभि अपने स्थल से ऊपर की ओर आ जाता है। तत्पश्चात् उस प्रदेश को उदर में भंवर के समान घुमाना चाहिए।

लाभ : सदा प्रसन्नतावर्द्धक इस नौति कर्म के प्रभाव से मन्द हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा पाचन शक्ति में वृद्धि होती है। हठक्रिया में अग्रणी यह कर्म अनेक प्रकार के रोगों का नाशक है।[40]

6. कपालभाति :

विधि- लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक श्वास का रेचक तथा पूरक करने को कपालभाति कहते हैं। इससे कफ आदि रोगों की निवृत्ति होती है।[41]

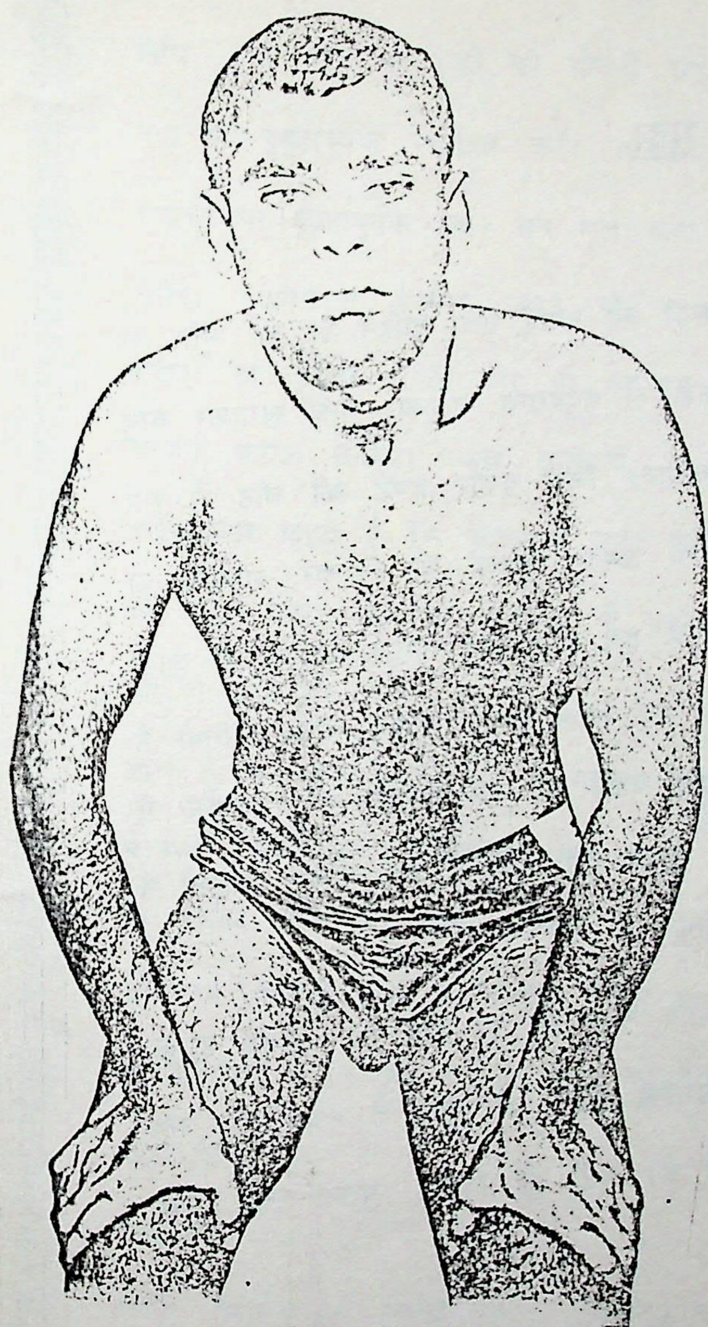
घेरण्ड संहिता में इस क्रिया के तीन भेद बताये गये हैं-

(क) वातक्रम : इड़ा नाड़ी से वायु का पूरक और पिंगला से रेचक तत्पश्चात् पिंगला से पूरक तथा इड़ा से रेचक।

(ख) व्युत्क्रम : दोनों नासारन्ध्रों से जल को खींचकर मुँख से निकालना तथा मुख से पीकर दोनों नासारन्ध्रों से जल को निकालना।

(ग) शीत्क्रम : शीत्कार के साथ जल को मुँख के द्वारा ग्रहण करके दोनों नासारन्ध्रों से निकालना।

लाभ : इस अभ्यास से कपालस्थ नासा-छिद्रों तथा श्वसन-संस्थान के अन्य सभी भागों की सफाई हो जाती है। प्राण वायु की अधिकाधिक प्राप्ति से शरीरस्थ विषाक्त-तत्व बाहर निकल जाते हैं। पेट की पेशियों तथा उनसे सम्बन्धित अंगों का व्यायाम हो जाता है। रक्तवाहिनियों की क्रियाशीलता बढ़ने से रक्त स्वच्छ होता है। श्वास नली तथा मस्तिष्क प्रदेश की शुद्धि होती है तथा पर्याप्त शक्ति प्रयोग के कारण पसीना आने से सम्पूर्ण शरीर भी स्वच्छ हो जाता है, फलतः अन्तर्दृश्य तथा



कपालभाति

विचार स्वयमेव बन्द हो जाते हैं। इसका नियमित अभ्यास करने से कपाल चमकने लगता है।

मुद्रा

महामुद्रा :

विधि- बाँएं पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जलन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा सीधी हो जाती है तब इड़ा और पिंगला मृतवत हो जाती है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है इसी कारण विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

लाभ : इस मुद्रा से अविद्या अस्मिता आदि पंचक्लेश दूर होते हैं। अतएव इसका नाम महामुद्रा पड़ा। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा कुष्ठ रोग एवं गुदा सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। बढ़ी हुई तिल्ली, पुराना ज्वर, प्रमेह भी दूर हो जाते हैं।

गोरक्ष-संहिता[42] तथा घेरण्ड संहिता[43] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

महाबन्ध :

विधि वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगाये तथा दायें चरण को वाम जंघा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे धीरे वायु को रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए। कुछ आचार्यो के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जाअन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

लाभ : यह महाबन्ध निश्चित ही महान सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से सभी नाडियों की अर्ध्वगामिता रूक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोडने की सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों नाड़ियों (इडा पिंगला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[44] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी संगम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[45]

महाबेध:

विधि- महाबेध की महत्ता का वर्णन करते हुए हठयोगप्रदीपिका[46] तथा घेरण्ड संहिता[47] में कहा गया है कि जिस प्रकार रूप यौवन-सम्पन्ना स्त्री, पुरूष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध दोनों ही महाबेध के बिना व्यर्थ है। इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर

मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए । तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है ।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिंगला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए ।

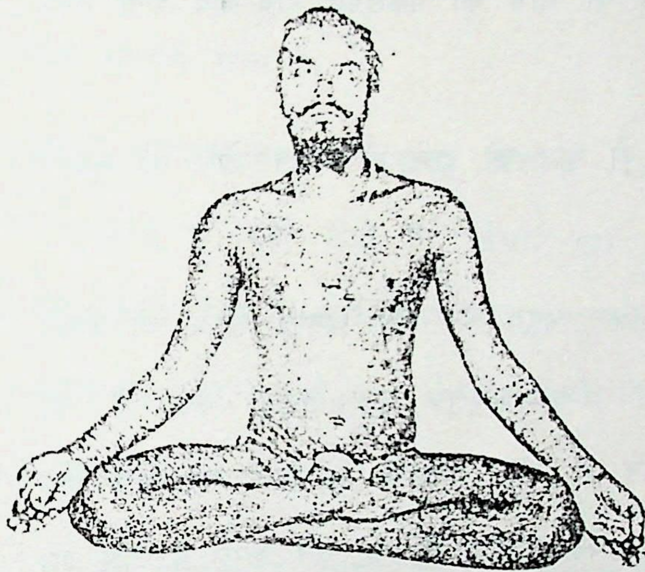
लाभ : इस महाबेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, बालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा सिद्धियों की प्राप्ति होती हैं। अच्छे जानकार साधकों को भी इसका अभ्यास काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[48]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय लेता है।[49]

खेचरी :

विधि- जीभ को धीरे-धीरे तालु के अन्दर प्रवेश कराके, जीभ को ऊपर की ओर उलटकर कपाल गुहर में प्रविष्ट कराकर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि स्थिर करने को खेचरी मुद्रा कहते हैं।



खेचरी

इस क्रिया को सिद्ध करने के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन करते हैं। यह क्रिया लम्बे अर्से के बाद सिद्ध होती है। ऐसा करने पर जिह्वा इतनी बढ़ जाती है कि वह भ्रुकुटि के मध्य भाग तक पहुँचने लगती है, तब खेचरी सिद्ध होती है। हाथ के अंगूठा और तर्जनियों से जीभ को पकड़कर दायें-बायें दोनों तरफ घुमाने का नाम चालन है।

अंगूठा और उंगलियों की मदद से गाय को दूहने के समान जीभ को दुहकर बढ़ाने का नाम दोहन है।

स्नुही या सेहुंड के पत्ते के समान बहुत पैने और स्निग्ध शस्त्र को लेकर उससे जिह्वा के नीचे की पतली झिल्ली जिसे फ्रेनुलुम (Frenulum) कहते हैं, को काटने को छेदन कहते हैं। ऐसे काटने से जीभ आसानी से ऊपर की छोर तक बढ़ाई जा सकती है। छेदन की क्रिया प्रत्येक सप्ताह में एक बार करते हैं और इस प्रकार करते हुए छः महीने के अन्तर्गत छेदन की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

खेचरी सिद्ध करने की एक दूसरी सरल विधि भी है। इस विधि में जिह्वा को उलटकर मोड़ते हुए तालु से लगाकर कुछ देर तक स्थिर रखें। धीरे-धीरे इसका अभ्यास बढ़ायें। ऐसा करने से कुछ समय पश्चात् जीभ कोमल होकर आसानी से मुख गह्वर में प्रविष्ट होने लायक हो जाती है। सिंहासन, शीतली प्राणायाम इस क्रिया में सहायक है। इसके अभ्यास के समय प्रोटीन युक्त भोजन का सेवन न करने से खेचरी शीघ्र हो जाती है।

लाभ : तालु के ऊपर छिद्र में जिह्वा को प्रविष्ट करके एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनट भी स्थिर रखें तो योगी सर्प बिच्छू आदि के विष से मुक्त हो जाता है। इसके अभ्यास से निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा-प्यास, मूर्च्छा आदि भी योगी के पास नहीं

फटकती है। इसका कारण है कि जब जीभ भ्रूमध्य को छूती है तो वह लार ग्रन्थि (Salivary gland) को उत्तेजित करती है और उससे लार स्रावित होने लगता है जिससे साधक की चेतना अभ्यास के समय व्यग्र नहीं होती और साधक लम्बे समय तक निर्विध्न ध्यानस्थ रहता है।

जीभ से मस्तिष्क तक जाने वाली तंत्रिकाएं (Trigeminal G'osopheryngial) परानुकंपी प्रधानतंत्र से जुड़ी होती हैं। खेचरी मुद्रा द्वारा स्नायु उत्तेजित होते हैं जिससे इनमें स्पन्दन होता है इसके साथ ही साथ स्वाद, रस और श्वसन को भी नियंत्रित करती है। अत: खेचरी मुद्रा के अभ्यास के बाद योगी समाधि की स्थिति को सहज ही प्राप्त कर लेता है।

ध्यान की अवस्था में खेचरी मुद्रा के अभ्यास के फलस्वरूप मध्य मस्तिष्क प्रभावित होता है और मध्य मस्तिष्क से ही श्वसनतंत्र, हृदय और शरीर के अन्य स्नायु नियंत्रित होते हैं। परानुकंपी स्नायुतंत्र के उत्तेजित हो जाने से शिथिलता आती है और यही शिथिलता समाधि में सहायक होती है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एक मात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एक मात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[50]

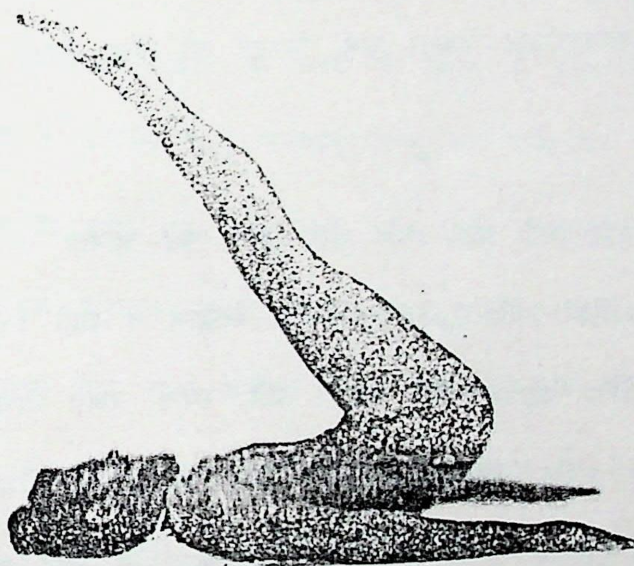
विपरीतकरिणी :

विधि- दिव्यरूप चन्द्रमाण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है उन सबको नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुँख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरू के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्रमण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीतकरिणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त होती है।[51]

घेरण्ड संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल के चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीतकरिणी कहलाती है।[52]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरिणी मुद्रा है।[53] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।



विपरीतकरिणी

प्रारम्भ में एक क्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पाँवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षण मात्र में ही करनी चाहिए।

लाभ : इस मुद्रा में छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[54] भूख बढ़ने लगती है, आमाशयिक विकार भ्रम, सिरदर्द को ठीक करता है।

वज्रोली :

विधि- योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबर की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

लाभ : लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है। इन मुद्राओं को किसी अनुभवी की सहायता से करनी चाहिए अन्यथा हानि पहुँचने की अधिक सम्भावना होती है।

यदि कोई साधक इस क्रिया को जानता है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाला, आकाशगामी एवं उसे कार्य सिद्धि प्राप्त होती है।[55]

शक्तिचालन :

विधि- हठयोग प्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग के मुँख द्वार को ढ़ककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गंगा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिंगला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरूषार्थ से ही जगाना सम्भव होता है क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर इस शक्ति को प्रातः और सायं आधे पहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊँचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तद्नन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर उर्ध्वगामी हो जाती है।

लाभ : सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होता है। जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वहीं राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[56]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[57]

योनिमुद्रा :

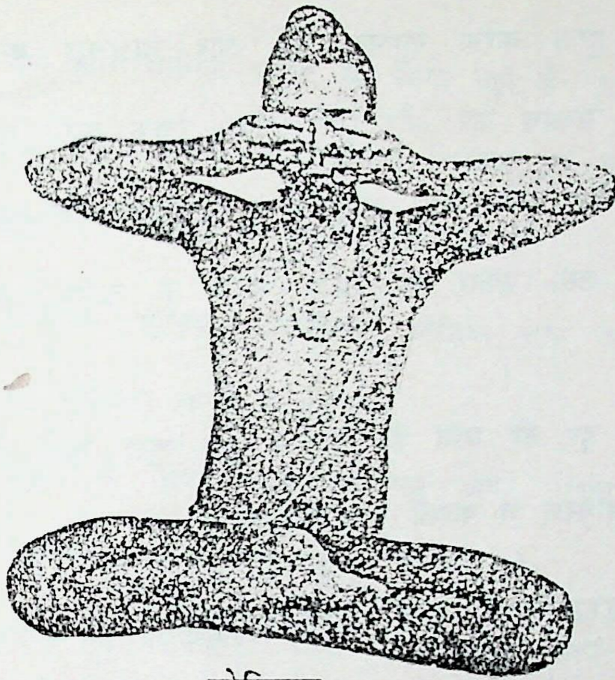
विधि- सिद्धासन पर बैठकर पूरक करें। तत्पश्चात् योनिमार्ग का ऊपर की ओर संकोच करें और दोनों अंगूठे से दोनों कानों को, तर्जनी से, दोनों आँखों को, मध्यमा से, नाक को अनामिका एवं कनिष्ठिका से ओष्ठ को बन्द कर लें। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् हाथों की अंगुलियों को हटा लें और योनि भाग का संकोच भी छोड़ दें फिर पूरक करके यही प्रक्रिया करें। इसे योनिमुद्रा कहते है।

लाभ : इससे कुण्डलिनी शक्ति शीघ्र जागृत होती है एवं वीर्य का ओजस शक्ति में रूपान्तरण होता है। इस मुद्रा से प्राण अपान का संगम होता है।

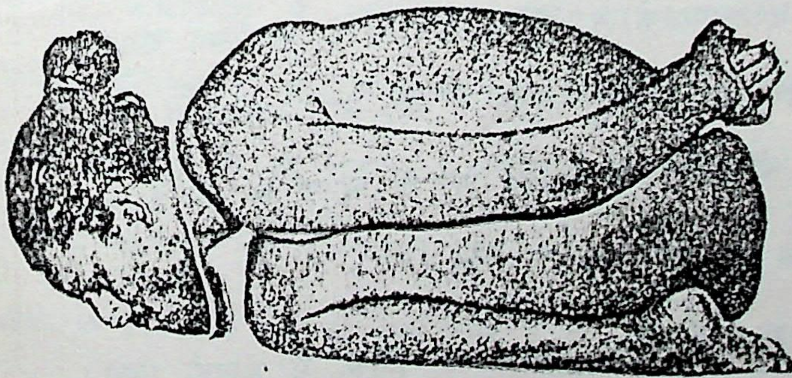
योग मुद्रा :

विधि- मूलबन्ध के साथ पद्मासन में बैठकर सर्वप्रथम दोनों नासिकापुटों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगायें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दांयें हाथ की ओर और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एडियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचक करें।

लाभ : पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है।



योनिमुद्रा



योगमुद्रा

अश्विनी मुद्रा :

विधि- स्थिर आसन पर बैठकर पूरक करके कुम्भक करें और जालन्धर बन्ध लगायें और गुदा द्वार को बार-बार संकोच करें और छोड़े। फिर रेचक करते हुए बार-बार करें। इस मुद्रा में जैसे घोड़ा मल त्याग करते समय गुदा का बार-बार संकोच करता है और छोड़ता है उसी प्रकार की क्रिया करने के कारण इसे अश्विनी मुद्रा कहते हैं।

लाभ : गुदा सम्बन्धित सभी रोग दूर हो जाते हैं। सुषुम्ना द्वार खुल जाता है जिससे कुण्डलिनी शक्ति के शीघ्र जागरण में काफी मदद मिलती है।

योगाभ्यास- सावधानियाँ एवं विशेषताएँ

योगाभ्यास से कई सार्थक स्थूल प्रभाव होते हैं। योग मनुष्य तथा उसके पर्यावरण में सामंजस्य बनाये रखने में सहायक होता है और मनुष्य को पर्यावरणजन्य विकारों से बचाता है। योगाभ्यास मनुष्य के मनो-दैहिक व्यवस्था में व्यवस्थित क्षमता प्रदान करके उसे रोगों से बचाता है। आधुनिक समय में होने वाले अधिकांश रोग मनुष्य तथा उसके पर्यावरण के बीच सामंजस्य न बन पाने के कारण ही उत्पन्न हो रहे हैं।

यौगिक क्रियाएँ मुख्यतः निम्नांकित तीन प्रकार की भूमिका में प्रभावी होती हुई मनुष्य के स्वास्थ्य-लाभ एवं रोगनिवारण में सहायक होती है-

1. मनोविजय एवं तनाव-शैथिल्य हेतु
2. शारीरिक व्यायाम एवं पुनर्स्थापन हेतु
3. संशोधन हेतु

योग-साधना :

योग कोई धार्मिक प्रवृत्ति या क्रिया नहीं है। यह एक वैज्ञानिक साधना-पद्धति है, जिसका उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास एवं समुन्नयन है। इसे मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन सन्दर्भो में प्रस्तुत किया जा है-

1. शारीरिक, ऐन्द्रियक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों का समन्वयन एवं एकाकार करने के लिए।
2. मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का अपने पर्यावरण के साथ समन्वयन या एकीयकरण करने वाले कारक के रूप में।
3. मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना का सार्वभौम सत्य दिव्यचैतन्य के साथ एकाकार कराने वाले साधन रूप में।

तीनों अर्थो में जुड़ने की प्रक्रिया या कला की विशिष्ट स्थितियों का नाम योग है। अष्टांगयोग के सभी आठ अंगों का यथासम्भव समुचित अभ्यास ही 'सम्यक् योग-साधना' है। अष्टांगयोग के प्रथम दो अंग यम व नियम सद्वृत्ति साधना के विषय है जो चित्त तथा कामशुद्धि के माध्यम है, और योगावस्था प्राप्त करने के महत्वपूर्ण मार्ग है। आसन मुख्य रूप से शरीर की साधना है। पतञ्जलि ने आसन के विषय में एक ही सूत्र लिया है - 'स्थिरसुखमानसम्' अर्थात आसन उसे कहते है जो साधक के लिए सुखावह हो तथा स्थिरता प्रदान करने वाला हो।

आसनाभ्यास के बीच-बीच में तथा अन्त में विश्रान्तिकर आसन का अभ्यास आवश्यक है। इसके उपरान्त शारीरिक स्थिति सामान्य हो जाय तो प्राणायाम करना चाहिए। प्रारम्भ में सरल नाड़ी-शोधन प्राणायाम उत्तम है।

उच्छ्वास की प्रक्रिया लम्बी होनी चाहिए ताकि सम्पूर्ण दूषित वायु बाहर आ जाय। मनुष्य की श्वसन-प्रक्रिया में यदि प्रश्वास बराबर लम्बी हो तो वह मनुष्य जीवन-पर्यन्त अधिक विश्रान्त तथा तनाव रहित रह सकता है। इस आधार पर प्रतिदिन श्वास एवं प्राणायाम का अभ्यास सम्यक् योग का प्रमुख अंग होना चाहिए। ये सभी बहिरंग योग की साधना है। इसके उपरान्त प्रतिदिन थोड़ी देर तक प्रत्याहार का अभ्यास करना चाहिए। प्रत्याहार इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करने का अभ्यास है, इसके बिना अन्तरंग योग के अन्य अभ्यास दुष्कर होते हैं। प्रत्याहार के लिए योनिमुद्रा का अभ्यास उत्तम है। प्रत्याहार के उपरान्त अपनी स्थिति के अनुरूप धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास करते हैं। धारणा में मन को अर्थ विशेष की ओर लगाने का प्रयास करते है। अर्थ- विशेष पर मन के सटीक-स्थिर हो सकने की स्थिति ध्यान है और ध्यान की वह पराकाष्ठा जिसमें साधक ध्यान में इतना लीन हो जाय कि उसे अपने स्वयं का ध्यान समाप्त हो जाय तो उसे समाधि कहते हैं। योगसूत्रोक्त अष्टांगयोग का पूर्ण क्रमिक अभ्यास करने से ही व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। इसी को सम्यक् योग कहा जाता है।

योगाभ्यास क्रम :

एक घण्टे के सरल अभ्यास में योगाभ्यास को इस क्रम में करना चाहिए।

1 2. **यम-नियम-** बज्रासन या सुखासन में विश्रान्त भाव से पाँच यम तथा पाँच नियमों का मनन (10 मिनट) तक तथा उनके प्रति सकारात्मक संकल्प लेना चाहिए।

3. **आसन**- सरल आसनों का अभ्यास (20 मिनट)।

खड़े होकर -- ताड़ासन, त्रिकोणासन।

बैठकर - पद्मासन, भद्रासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन तथा योगमुद्रा।

लेटकर - (क) भुजंगासन, शलभासन, मकरासन।

(ख) पवनमुक्तासन, सर्वांगासन, शवासन।

4. प्राणायाम 10 मिनट।

(क) श्वास पर ध्यान तथा उच्छ्वासवर्द्धन (4 मिनट)

(ख) नाड़ी-शोधन (6 मिनट)

5. **प्रत्याहार-** (5 मिनट) योनिमुद्रा। इन्द्रियनिग्रह, संकल्प तथा आत्मनिर्देश।

6-8. **संयम (धारणा-ध्यान-समाधि)-** सहज ध्यान।

कुल 60 मिनट

षट्योग, बंध, मुद्रा तथा अधिक कठिन आसनों को अलग से अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम तथा ध्यान या अन्य विश्रान्तिकर प्रक्रियाओं, जैसे- योगनिद्रा, अन्तर्मौन, धारणा आदि का अभ्यास यथावश्यक समय में किया जा सकता है। जिन साधकों के पास समय कम हो वे आधे घण्टे में भी अभ्यास कर सकते हैं। आसन 15 मिनट में तथा शेष प्रक्रियाएँ 15 मिनट में की जा सकती हैं। आवश्यक हो तो यम-नियम का संकल्पाभ्यास प्रतिदिन न करके सप्ताह में दो दिन या तीन दिन किया जा सकता है। प्रत्याहार भी प्रतिदिन न करके सप्ताह में दो या तीन दिन किया जा सकता है। आसन, प्राणायाम तथा धारणादि प्रतिदिन होना चाहिए।

स्वस्थ व्यक्ति एवं योगाभ्यास :

सामान्य रूप से स्वस्थ व्यक्ति को योगाभ्यास का अभ्यास पूर्णरूप से इस क्रम में करना चाहिए

आसन-

1. शीर्षासन - 1/4 मिनट से 12 मिनट तक, प्रति सप्ताह 1/2 मिनट बढ़ाते हुए।

2. सर्वांगासन - 1/2 मिनट से 6 मिनट, प्रति सप्ताह 1 मिनट बढ़ाते हुए।

3. मत्स्यासन - 1/2 मिनट से 3 मिनट, प्रति सप्ताह 1/4 मिनट बढ़ाते हुए।

4. हलासन - 1 मिनट से 4 मिनट, प्रति सप्ताह 1 मिनट बढ़ाते हुए।

5. भुजंगासन - | प्रत्येक आसन 3-7 बार, प्रत्येक स्थिति 10 सेकेण्ड प्रति 15 दिन
6. शलाभासन- | पर एक आसन-क्रम बढ़ाते हुए।
7. धनुरासन - |

8. अर्धमत्स्येन्द्रासन - 1/4 मिनट से 1 मिनट के लिए, प्रति सप्ताह 1/4 मिनट बढ़ाते हुए।

9. पश्चिमोत्तासन - 1/4 मिनट से 1 मिनट, प्रति सप्ताह 1/4 मिनट बढ़ाते हुए।

10. मयूरासन - 10 सेकेण्ड से 2 मिनट, प्रति सप्ताह 1/4 मिनट बढ़ाते हुए।

11. शवासन - 2 से 10 मिनट, प्रति सप्ताह 2 मिनट बढ़ाते हुए।

बन्ध : उड्डियान - 3-7 बार, प्रति सप्ताह एक बार बढ़ाते हुए।

मुद्रा : योगमुद्रा: 1-3 मिनट, प्रति सप्ताह 1 मिनट बढ़ाते हुए।

क्रिया : 1. नौलि - 3-7 बार, प्रति सप्ताह एक बार बढ़ाते हुए। 2. कपालभाति- 3 बार (प्रत्येक बार में 11-121 उच्छ्वास, प्रति सप्ताह प्रत्येक बार 11 उच्छ्वास बढ़ाते हुए।

प्राणायाम :

1. उज्जयी- 7-28 बार, प्रति सप्ताह 3 बार बढ़ाते हुए।

2. भस्त्रिका- 3 बार (प्रत्येक बार में 11-121 उच्छ्वास, प्रति सप्ताह प्रत्येक बार में 11 उच्छ्वास बढ़ाते हुए। प्रत्येक बार के बाद उपयुक्त कुंभक।

समयाभाव में योगाभ्यास :

सामान्य रूप से ऐसे स्वस्थ स्त्रियों व पुरुषों के लिए जो समयाभाव, शक्तिहीनता या इच्छानुसार पूर्ण योगाभ्यास-क्रम न अपना सकें, उनके लिए निम्नलिखित संक्षिप्त क्रम उपयोगी है-

1. भुजंगासन-
2. अर्धशलभासन-
3. धनुरासन-

(1–3:) प्रत्येक आसन 3-7 बार (प्रत्येक स्थिति 2-5 सेकेण्ड), 15 दिन पर प्रत्येक आसन का एक-एक क्रम बढ़ाते हुए।

4. हलासन- सर्वप्रथम अर्ध हलासन (2 सेकेण्ड प्रत्येक अवस्था में) बाद में दो-दो सेकेण्ड के चारों अवस्थाओं सहित पूर्ण हलासन 3-5 बार करें, प्रत्येक 15 दिन पर एक-एक बार बढ़ाते हुए।

5. पश्चिमोत्तानासन- 3-7 बार (प्रत्येक स्थिति 5 सेकेण्ड), प्रत्येक दो सप्ताह पर एक बार बढ़ाते हुए।

6. अर्धमत्स्येन्द्रासन- 3-7 बार (प्रत्येक स्थिति 5 सेकेण्ड), प्रत्येक दो सप्ताह पर एक बार बढ़ाते हुए।

7. योगमुद्रा या उड्डियान- 3-5 बार (प्रत्येक स्थिति 10 सेकेण्ड), प्रत्येक सप्ताह में एक बार बढ़ाते हुए।

8. विपरीतकरणी- प्रारम्भ में दो-दो सेकेण्ड की स्थितियों में अर्द्ध विपरीतकरणी करें। बाद में 10 सेकेण्ड तक पूर्ण विपरीतकरणी 2-5 बार करनी चाहिए।

9. उज्जयी- 7-21 बार, प्रति सप्ताह तीन-तीन बार बढ़ाते हुए।

दुर्बल व्यक्तियों के लिए योगाभ्यास :

ऐसे लोग जो बिना किसी विशेष व्याधि के भी दुर्बल हों, उनके लिए निम्नलिखित सरल योगाभ्यास क्रम उपयुक्त है-

1. उज्जयी- 7-14 बार, प्रत्येक सप्ताह 2 बार बढ़ाते हुए।

2. भुजंगासन- } प्रत्येक 2-5 बार (प्रत्येक अवस्था 2-5 सेकेण्ड), प्रत्येक दो सप्ताह बाद एक बार बढ़ाते हुए।
3. अर्धशलभासन- }

4. अर्धहलासन- एक पैर से प्रारम्भ करें। 15 दिन बाद ही दोनों पैरों से अभ्यास प्रारम्भ करें। 15^0, 30^0, 60^0, 90^0 डिग्री कोणों पर (प्रत्येक कोण पर) 2 सेकेण्ड का विश्राम सहित 3-6 बार अभ्यास करें तथा हर 15 दिन पर एक बार बढ़ायें।

5. वक्रासन- 5-5 सेकेण्ड दोनों तरफ, 3-6 बार। प्रत्येक दो सप्ताह बाद एक-एक बार बढ़ाते हुए।

6. चक्रासन- 2-2 सेकेण्ड दोनों तरफ, 2-5 बार। प्रत्येक दो सप्ताह बाद एक-एक बार बढ़ाते हुए।

7. पश्चिमोत्तानासन- 2 से 5 बार (3-3 सेकेण्ड), हर 15 दिन पर एक-एक बार बढ़ाते हुए।

8. योगमुद्रा या इसके विभेद- 3-5 बार (5-5 सेकेण्ड), प्रत्येक सप्ताह एक-एक बार बढ़ाते हुए।

सावधानियाँ :

उपरोक्त प्रकार के अभ्यास क्रम में कुछ सावधानियाँ आवश्यक हैं। जिनके कान बहते हों, जिनकी आँखे कमजोर हों, जिन्हें हृद्रोग हो तथा जिन्हें उच्च रक्तचाप हो उन्हें शीर्षासंन नही करना चाहिए। शीर्षासन, विपरीतकरणी तथा

सर्वांगासन का अभ्यास भी पीनस रोग तथा जीर्ण नासारोग पीड़ितों को बहुत सावधानी से करना चाहिए। उदरशूल तथा प्लीहोदर के रोगियों में भुजंगासन, शलभासन तथा धनुरासन का निषेध उचित है। विबंध से पीड़ित व्यक्ति को भी चाहिए कि वह योगमुद्रा तथा पश्चिमोत्तानासन का अधिक अभ्यास न करें। उड्डियान, नौलि, भस्त्रिका तथा कपालभाति का अभ्यास कमजोर तथा रूग्ण हृदय वालों को नहीं करना चाहिए। कमजोर तथा रूग्ण फुप्फुस वाले व्यक्ति कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जयी, कुम्भक न करें, ऐसे लोग उज्जयी रेचक-पूरक कर सकते हैं। उच्च रक्तचाप वालों को शवासन तथा इसी प्रकार के अन्य तनाव-शैथिल्यक यागाभ्यास ही करना चाहिए। अन्य प्रकार के योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त योगाभ्यास क्रम में विभिन्न आसनादिकों के लिए जो समय और मात्रा के अनुपात दिये गये हैं वे अत्यन्त सामान्य हैं। व्यक्ति विशेष के लिए इसकी स्वयं विचार कर लेनी चाहिए। साधक को ध्यान रखना चाहिए कि इन अभ्यासों से उन्हें थकान की अनुभूति न हो। अभ्यास की समाप्ति के बाद साधक को और अधिक चैतन्यता तथा आनन्दानुभूति होनी चाहिए तथा तनाव शैथिल्य होना चाहिए। यदि किसी कारणवश अभ्यास कुछ दिन के लिए छूट जाय तो पुनः धीरे-धीरे प्रारम्भ करना चाहिए। यदि रूग्णावस्था के कारण योगाभ्यास बन्द किया गया हो तो पर्याप्त रूप से पुनः स्वस्थ होने पर प्रारम्भ करना चाहिए। कुछ दिनों तक टहलने का अभ्यास करते हुए तदुपरान्त योगाभ्यास करना चाहिए।

हल्का भोजन करने या पर्याप्त पेय पदार्थ लेने के कम से कम डेढ़ घण्टे तक योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। आधा कप तरल भोजन लेने के आधे घण्टे बाद योगाभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है। पूर्ण आहार के $4^1/_2$ घण्टे बाद ही

योगाभ्यास करें। योगाभ्यास करने के उपरान्त आधे घण्टे बाद हलका भोजन या नास्ता लेने में कोई हानि नहीं है।

योगाभ्यास करने के लिए स्वच्छ, शान्त तथा हवादार स्थान आवश्यक है। योगाभ्यास के समय शरीर पर भारी हवा के झोंके न लगने दें। अभ्यास के लिए उचित है कि एक ही स्थान पर और एक ही समय पर योगाभ्यास किया जाय। इससे ध्यान बाँधने में सहायता मिलती है।

उड्डियान, नौलि, कपालभाति या भस्त्रिका तथा उज्जयी का अभ्यास प्रातःकाल इसी क्रम से करना चाहिए। जिन्हें विबन्ध हो वे लोग शौच के पूर्व भी उड्डियान तथा नौलि कर सकते हैं। नौलि करने के पूर्व ऊष्ण नमक युक्त जल लेकर नौलि करने से शौच की प्रवृत्ति तुरन्त बनती है।

कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जयी का अभ्यास शौच व स्नान के बाद ही करना चाहिए। इनका अभ्यास पद्मासन या सिद्धासन में करना चाहिए। आसनों का अभ्यास सायंकाल करना अच्छा रहता है, क्योंकि मांसपेशियाँ सायंकाल शिथिल रहती है, जबकि प्रातःकाल उनमें कठोरता रहती है। योगमुद्रा, उज्जयी, कपालभाति या भस्त्रिका को सायं भी दुहरा सकते हैं। योगमुद्रा को आसनों के साथ शवासन से पूर्व करना चाहिए।

प्रातः या सायं जब भी योगाभ्यास करना हो उसे निम्नलिखित के क्रम में करना चाहिए- पहले आसन योगमुद्रा सहित, उसके बाद बन्ध तथा क्रिया और अन्त में प्राणायाम। कपालभाति को भी प्राणायाम के अन्तर्गत ही लेना चाहिए। सामान्यतया

सरल आसन को पहले तथा कठिन आसन को बाद में करना चाहिए। यदि बीच का कोई आसन छूट भी जाय तो भी उसके आगे का क्रम चालू ही रखना चाहिए।

योग एवं आसनों के अभ्यास के साथ-साथ अन्य कठोर शारीरिक व्यायाम करने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इनको तुरन्त एक दूसरे के आगे-पीछे नहीं करना चाहिए। कम से कम 20-30 मिनट का अन्तर कर लेना चाहिए।

योगाभ्यास के पूर्व पूर्ण स्नान कर लेना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण स्नान कर लेने से पूरे शरीर में सम्यक् रक्तसंचार होता है और किसी आसन-विशेष को करते समय शरीर के किसी भाग विशेष के रक्तप्रवाह को बढ़ाने-घटाने में सहायता मिलती है।

योगाभ्यासी का आहार, सरल, सुपाच्य, सात्विक होना चाहिए। भोजन को अच्छी तरह चबाकर खाना चाहिए। दिन में दो ही बार या हो सके तो एक ही बार भोजन करना चाहिए। मांस, मद्यपान तथा धूम्रपान का निषेध करना चाहिए। चाय या कॉफी का प्रयोग कम करना चाहिए। अप्राकृतिक तथा अनावश्यक यौनाचार भी वर्जित है।

सभी प्रकार के योगाभ्यास स्त्री-पुरुष दोनों के लिए है परन्तु स्त्रियों को चाहिए कि ऋतुकाल/आर्तवकाल तथा गर्भावस्था में सभी योगाभ्यास बन्द कर दें और गर्भावस्था के लिए यदि आवश्यक हो तो अलग से अभ्यास-क्रम का चिकित्सीय परामर्श से चयन करना चाहिए। बच्चों को 12 वर्ष की आयु के पूर्व केवल भुजंङ्गासन, अर्द्धशलभासन, धनुरासन, पश्चिमोत्तानासन, हलासन तथा योगमुद्रा ही करना चाहिए। 12 वर्ष के बाद अन्य आसन भी करने चाहिए। उज्जयी और

उड्डियान 12 या 13 वर्ष की आयु के पहले नहीं करना चाहिए। इसमें उज्जयी व उड्डियान प्रातः तथा बाकी आसन, व्यायाम सायंकाल करना चाहिए। आसनों के अभ्यास में यह महत्वपूर्ण है कि अभ्यास के समय को घटाया जा सकता हैं, परन्तु किसी अभ्यास-विशेष को छोड़ना नहीं चाहिए। अस्वस्थ व बीमार लोगों को चाहिए कि चिकित्सक के परामर्श के बिना योगाभ्यास न करें।

सन्दर्भ-सूची

1. उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
   कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वार प्रभेदयेत्।। (ह0यो0प्र0तृ0उप0 105)
2. हंकार: कथित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोर्योणात् हठयोगो निगद्यतें।। (हठयोग प्रदीपिका)
3. गोरक्षनाथ, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, द्वितीय परिच्छेद।
4. हठं विद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
   स्वात्मारामोऽभवा योगी जानीते तत्प्रसादत:।। (हठ प्रदीपिका 1/4)
5. उपदेशं हि मुद्राणां यों दत्ते साम्प्रदायिकम्।
   स एवं श्री गुरू स्वामी साक्षीदीश्वर एव स:।। (हठ प्रदीपिका 3/125)
   नादानुसंधानसमाधिभाजाम् योगीश्वराणां हदिवर्धमानम्।
   आनन्दमेकं वचसामगम्पम् जनाति तं श्री गुरूनाथ एक:।(हठप्रदीपिका 4/81)
6. सर्ववस्तु न्युदासीन भाव आसन मुत्तमम्। (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद- 29)
7. स्थिरसुखमासनम्। (यो0सू0 2/46).
8. यावन्त्यो जीवजातयस्तावत्मेवासनानि। (यो0वा0, पृ0 267).
9. शांडिल्योपनिषद, 13/8.
10. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद, 37.
11. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद, 35.
12. शांडिल्योपनिषद, 3/1.
13. पातंजलयोगप्रदीप। सूत्र 46.
14. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद, 44.
15. हठयोग प्रदीपिका, 1/32.
16. पादांगष्ठौ तु, पाणिम्या। गृहीत्वा श्रवणावधि।
    धनुराकर्षण कुयद्धिनुरासनमुच्यते।। (हठयोग प्रदीपिका)

17. प्रसार्य पादौ भूविदण्ड रूपोंकरौ च पृष्ठं घ्रत पाद युग्मम्।

कृत्वाधनुस्तुल्य विवर्तितांग निगद्य योगी धनुरासनं तत।। (घेरण्ड संहिता)

18. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद, 41.

19. पातंजलयोगप्रदीप, सूत्र 46.

20. उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम्। (ह0प्र0 1/32)

21. पातंजलयोगप्रदीप। सूत्र 46.

22. महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।

उड्डयान मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धरामिधः।।

करणी विपरीताख्या व्राजौली शक्तिचालनम्।

इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम्।। (ह0प्र0 3/6-7).

23. तस्मात्सर्व प्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।

ब्रह्मद्वारं मुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। (ह0प्र0 3/5).

24. पर्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद गुदम्।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।। (ह0प्र0 3/61).

25. बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूडीयते यतः।

तस्मादुड्डीयनाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः।। (ह0प्र0)

26. कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिवुकं दृढ़म।

बंधो जालंधराख्याऽयं जरामृत्युविनाशकः।। (ह0प्र0 3/70)

27. विज्ञान नाड़ी द्वितीयं अगुलीभ्या निरोपयेत।

सिद्धे सदा विर्भवति सुख रूपी निरंजनः।। (शि0सं0)

28. (क) हठयोग प्रदीपिका - 2/22.

(ख) घेरण्ड संहिता - 1/12.

29. ह0प्र0 2/24.

30. घेरण्ड संहिता- 1/13.

31. ह0प्र0 2/25.

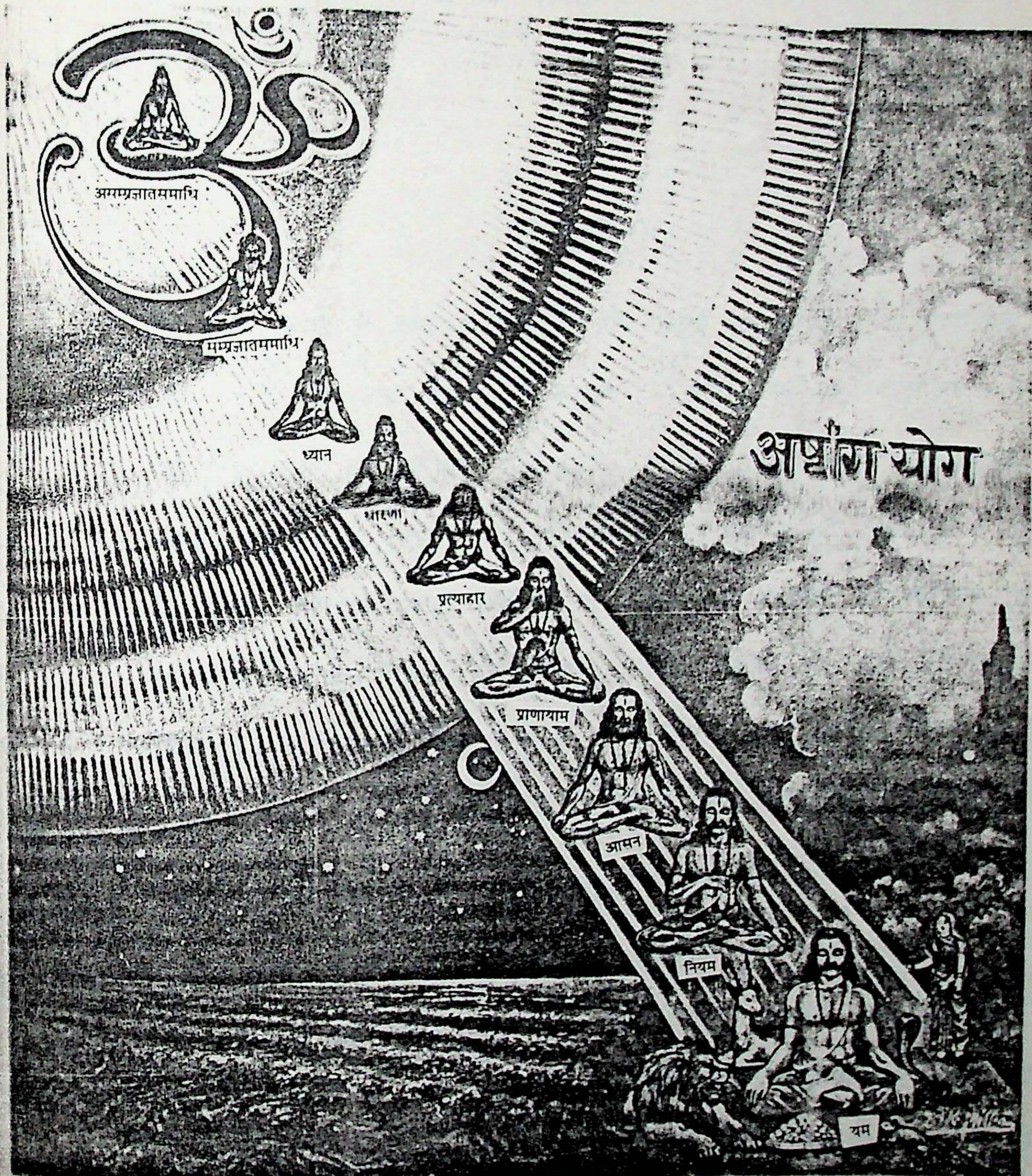
32. ह0प्र0- 2/38.

33. ह0प्र0- 2/27.
34. घेरण्ड संहिता-1/45.
35. ह0प्र0- 2/29.
36. घेरण्ड संहिता- 1/50-51.
37. ह0प्र0- 2/31.
38. ह0प्र0- 2/32.
39. ह0प्र0- 2/33.
40. ह0प्र0- 2/34.
41. ह0प्र0- 2/35.
42. गोरक्ष संहिता, प्रथम शतक
43. घेरण्ड संहिता- 3/6-7.
44. ह0प्र0- 3/19-24.
45. योगकर्णिका- 8/38.
46. ह0प्र0- 3/25.
47. घेरण्ड-संहिता- 3/21.
48. ह0प्र0- 3/26-31.
49. शिव-संहिता- 4/28.
50. हठयोग प्रदीपिका- 3/32-53.
51. हठयोग प्रदीपिका- 3/78.
52. घेरण्ड-संहिता- 3/33-34.
53. शिव-संहिता- 4/45.
54. हठयोग प्रदीपिका- 3/79-81.
55. ह0प्र0- 3/82-96.
56. ह0प्र0- 3/97-116.
57. शिव-संहिता- 4/58.

*****

तृतीय अध्याय

स्वास्थ्य रक्षा में योगदर्शन की उपयोगिता तथा अष्टांगयोग का स्वरूप


असम्प्रज्ञातसमाधि
सम्प्रज्ञातसमाधि
ध्यान
प्रत्याहार
प्राणायाम
आसन
नियम
यम
अष्टांग योग

स्वास्थ्य रक्षा में योगदर्शन की उपयोगिता तथा अष्टांगयोग का स्वरूप

अष्टांगयोग

अष्टांगयोग, योग दर्शन का प्रमुख अंग है तथा स्वास्थ्य में इसका बहुत ही महत्व है। अष्टांगयोग का अर्थ बहुत व्यापक है। इसके आठ अंग हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अंगों को दो भागों में विभाजित किया गया है- 1. बहिरंग, 2. अन्तरंग। यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार को बहिरंग योग कहते हैं, क्योंकि उनकी विशेषता बाहर की क्रियाओं से है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग योग के अन्तर्गत है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्तःकरण में होने वाली क्रियाओं से है। महर्षि पतञ्जलि ने एक साथ इन तीनों को 'संयम' भी कहा है।

आठ अंगों में से पूर्व के चार अंगो (यम, नियम, आसन और प्राणायाम) को हठयोग और बाद के चार अंगों (प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को राजयोग कहते हैं। हठयोग और राजयोग में श्रेणी भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है। दोनों एक दूसरे के अंगाश्रित है क्योंकि हठयोग (पूर्व के चार अंगों) के बिना राजयोग (उत्तर के चार अंगों) की और राजयोग के बिना हठयोग की सिद्धि नहीं होती है। मंत्रयोग और लययोग इन्हीं के अन्तर्गत है। इसके अतिरिक्त तप,

स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान रूप क्रिया योग यम-नियम रूप अंगों में आ जाता है। उत्पत्तियोग और औषधियोग का भी उपासनायोग (अष्टांगयोग) में ही अन्तर्भाव है।

अष्टांगयोग के अभ्यास से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति होकर क्रम से पच्चविभाग वाली अविद्या नष्ट होती है। अविद्या के नाश हो जाने से तज्जन्य अन्तःकरण की अपवित्रता का क्षय होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे साधक योगांगों का आदरपूर्वक अनुष्ठान करता है वैसे-वैसे ही उसके चित्त की मलिनता का क्षय होता है और मलिनता क्षय के परिणाम में उसके चित्त में ज्ञान की उत्कृष्टता होती जाती है।

पातञ्जलयोग की यही साधना मुख्य है। इन अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि के नाश होने पर विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है।[1] संक्षेप में इन अंगों का वर्णन निम्नलिखित रूप से है-

1. यम :

'यम उपरमे' धातु से यम शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ उपरम अर्थात् अभाव है। स्वाभाविक हिंसा, मिथ्या, स्तेय, मैथुन तथा परिग्रह का अभाव ही यम है। अधिक व्यापक रूप में यम का अभिप्राय एक ऐसा आत्म-अनुशासन है जिसके द्वारा मनुष्य के राजसिक अहंभाव और इसकी उत्तेजनाओं एवं कामनाओं को विजित एवं शान्त करके पूर्णरूप से समाप्त किया जा सकता है। इसका उद्देश्य नैतिक शान्ति अर्थात् आवेश शून्य स्थिति को उत्पन्न करना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह राजसिक मनुष्य के अहंभाव के नाश की योजना है। पातञ्जलयोग के अनुसार 'अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम के भेद हैं।'[2] इसका क्रमशः वर्णन निम्नलिखित है-

(अ) अहिंसा :

सभी धर्मो में किसी न किसी रूप में अहिंसा का स्थान है। जैन धर्म के अनुसार तो अहिंसा ही परम् धर्म है। अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी प्राणी को न मारना है। 'सर्वकाल में सर्वप्रकार से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना अद्रोह रूप अहिंसा कहा जाता है।'[3] शारीरिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के तीन भेद किये जा सकते हैं।

(क) कायिक अहिंसा : इसका अर्थ शरीर द्वारा हिंसा न करना अर्थात् किसी प्राणी को शारीरिक कष्ट न देना है। जैसे किसी का वध न करना, शरीर के अंगों को न काटना आदि। जो हिंसा न करने वाले जीवों का स्वसुख के लिए वध करता है, वह न तो इस जीवन में और न मरने के पीछे ही सुख पाता है।[4]

(ख) वाचिक अहिंसा : वाणी के द्वारा किसी का अहित न करना या दुःख न देना वाचिक अहिंसा है। जैसे अपमानजनक शब्द न कहना, किसी के अनिष्ट का परामर्श न देना, अहिंसा का उपदेश देना, प्रिय वचन बोलना आदि वाचिक अहिंसा के उदाहरण है।

(ग) बौद्धिक अहिंसा : बुद्धि ही भले-बुरे का निर्णय करके वचन तथा कर्म में प्रवृत्त करती है। बुद्धि में किसी के प्रति अनिष्ट करने के विचार, किसी के द्वारा किए गये अपकार का बदला न लेने की भावना एवं सबके प्रति कल्याणकारी विचार आदि बौद्धिक अहिंसा अन्तर्गत आता हैं।

अहिंसा का महत्त्व :

'अहिंसा ही सब यमांगों का मूल है। इसी के पालन के लिए शेष यमांग और नियम है।[5] महाभारत में कहा गया है कि सत्य भाषण उत्तम है, हितकारक

वचन बोलना सत्य से भी उत्तम है, क्योंकि हमारे मत में जिससे सब प्राणियों का हित होता हो वहीं सत्य है।[6] अहिंसा के पालन से साधक का हृदय कोमल हो जाता है, स्वार्थपरता और अहंकार कम होता है तथा योग में प्रगति होती है।

(ब) सत्य :

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त वस्तु के यथार्थ रूप को मन में धारण करना, वाणी से कहना तथा उसी के अनुसार व्यवहार करना सत्य कहा जाता है। परन्तु ऐसा सत्य भी तभी सत्य कहलाता है जबकि वह प्राणी मात्र के लिए उपकारी भी होवें क्योंकि 'सब भूतों के उपकार के लिए प्रवृत्त वाणी ही सत्य है न कि भूतों के नाश के लिए'।[7] यदि कहीं सत्य और अहिंसा में विरोध हो अर्थात् सत्य बोलने से हिंसा होती है तो वहाँ न बोलना ही अच्छा है। वहाँ मौन रह जाना चाहिए क्योंकि अहिंसा ही यम और नियमों का मूल है। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि 'सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोलें तथा प्रिय असत्य न बोले यह सनातन धर्म है।[8]

(स) अस्तेय :

सामन्य रूप में अस्तेय का अर्थ चोरी न करना है। 'शास्त्राज्ञा के विरूद्ध दूसरे के पदार्थो का ग्रहण करना स्तेय है।[9] इसका त्याग कर देना, उनकी इच्छा भी न करना अस्तेय है। उदाहरणार्थ किसी की चोरी आदि में प्रवृत्त न होना, किसी को ऐसा करने का परामर्श न देना, किसी विषय को जानते हुए उसे न छिपाना, अनाधिकार किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा भी न रखना आदि अस्तेय के अन्तर्गत आते है। साधक को चाहिए कि वह स्तेय का पूर्णरूप से त्याग कर देवें।

(द) ब्रह्मचर्य :

काम विकार का किसी भी प्रकार से उदय न होने देना ब्रह्मचर्य है। इसका व्यापक अर्थ ऐसा आचरण करना है जिससे ब्रह्म की अधिक से अधिक समीपता प्राप्त हो। इस समीपता को इन्द्रियों पर संयम करके प्राप्त किया जा सकता है। योग के अनुसार 'उपस्थ इन्द्रिय के संयम को ब्रह्मचर्य कहते हैं।[10] परन्तु इस इन्द्रिय पर पूर्ण संयम तभी हो सकता है जबकि अन्यों पर भी संयम हो। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए साधक को निम्नलिखित स्थितियो से सावधान रहना चाहिए।

स्त्रियों के दर्शन करना, स्पर्शकरना, स्मरण करना, उनके साथ खेलना, कीर्तन करना, एकान्त में उनके साथ रहना, गुप्त बातें करना तथा सम्भोग करना। अतः कभी मन में भी काम विकार को नहीं उठने देना चाहिए। ब्रह्मचर्य की महिमा जान लेने पर तो मनुष्य इसके खण्डन से बचेगा ही। जिस प्रकार किसी मनुष्य के सामने अति स्वादिष्ट भोजन परोसा जाय परन्तु उसे यह ज्ञात हो जाय कि इसमें विष मिला है तो आग्रह करने पर भी वह भोजन ग्रहण नहीं करेगा। उसी प्रकार ब्रह्मचर्य महिमा ज्ञात होने के पश्चात् मनुष्य काम से दूर रहता है।

(यं) अपरिग्रह :

धन सम्पत्ति आदि भोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संचय न करने को अपरिग्रह कहते हैं। भोजवृत्ति के अनुसार भी ऐसा ही कहा गया है, यथा- 'भोग साधनों का स्वीकार अर्थात् एकत्र न करना अपरिग्रह कहलाता है।[11] अस्तेय के अन्तर्गत तो अनाधिकारपूर्वक किसी का धन न लेना है, परन्तु अपरिग्रह का पालन करने के लिए तो अपने परिश्रम से कमाये हुए धन को भी आवश्यकता

(आ) सन्तोष :

सामर्थ्यानुसार परिश्रम करने पर जो फल प्राप्त होवे उसी से संतुष्ट रहना सन्तोष कहलाता है। अत: 'सन्तोष समीपस्थ भोग साधनों से अधिक प्राप्ति की इच्छा न होना है'।[15] इससे भी स्पष्ट 'तृप्ति ही सन्तोष है'।[16] गीता के अनुसार हम कह सकते है कि तृष्णारहित हो जाना ही सन्तोष है।

सन्तोष का महत्व :

'सुख की इच्छा करने वाला परम सन्तोषी बने क्योंकि सुख का मूल कारण सन्तोष है और दु:ख का मूल कारण असन्तोष है'।[17] बिना सन्तुष्टि के शान्ति नहीं मिलती है। सन्तोष रहित चित में ज्ञान उसी तरह से प्रकाशित नहीं होता है जैसे मलिन दर्पण में मुख दिखाई नहीं देता है। अत: साधक को सन्तोष का अवश्य ही पालन करना चाहिए।

(इ) तप :

'द्वन्दों को सहन करना तप कहलाता है'।[18] यह शरीर, प्राण, इन्द्रियों तथा मन को उचित रीति से वश में करने की क्रिया है। इससे साधक भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, हर्ष-शोक आदि की अवस्था में बिना विक्षेप के योग में प्रवृत्त हो सकता है।

तप के भेद :

गीता में तप के कायिक, वाचिक और बौद्धिक तीन भेद माने गये हैं जिनकी व्याख्या निम्न प्रकार से है

(क) **कायिक तप** : भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि शारीरिक कष्टों को सहन करना शारीरिक तप है। योग मार्ग में आसन, प्राणायाम, युक्त आहार-विहार आदि शारीरिक तप माने गये हैं। गीता के अनुसार 'देवता, ब्राह्मण, गुरु, और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप माना गया है।[19]

(ख) **वाचिक तप** : वाणी पर अधिकार रखते हुए युक्ति-युक्त वचन बोलना वाचिक तप है। 'जो वचन किसी की बुद्धि में क्षोभ, क्रोध, द्वेष, अपकार, प्रतिकार आदि उत्पन्न न करे ऐसे सत्य प्रिय और मधुर वचन जिससे दूसरा व्यक्ति आवेश को त्याग कर नम्र, आर्द्र और प्रसन्न हो तथा स्वाध्याय- निरतवाणी इस तप के अन्तर्गत है।[20]

(ग) **बौद्धिक तप** : काम, क्रोध, लोभ, मोह, निन्दा, राग-द्वेष, संशय जन्य कुवृत्तियों का बुद्धि से सदा निवारण करते रहना, अपमान, हानि निन्दा से भी बुद्धि का संतुलन न खोना, वासनाओं आदि को हटाना बुद्धि का तप है।

सत्वादि भेद से भी तप को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया गया है-

1. **सात्विक तप** : 'जो तप युक्त आहार-विहार को ध्यान में रखकर फल की तृष्णा से रहित होकर, कैवल्य की प्राप्ति के लिए परम श्रद्धा और विश्वास के साथ किया जाता हैं वह सात्विक तप कहलाता है।[21] ऐसा तप ही योग की साधना का अंग होता है।

2. **राजसिक तप** : 'जो तप रजोगुण से प्रभावित होकर अपने सत्कार, मान, पूजा के लिए पाखण्ड पूर्वक किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप राजसिक कहा जाता है'।[22] योग मार्ग में ऐसे तप से कोई प्रगति नहीं होती है।

3. तामसिक तप : 'जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन वाणी और शरीर को पीड़ा देकर किया जाता है अथवा दूसरों का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तामसिक तप कहलाता है'।[23] इस प्रकार के तप को मूर्ख, राक्षस आदि करते हैं।

(ई) स्वाध्याय :

तप के अतिरिक्त साधक को स्वाध्याय का भी सेवन करना होता है। 'ओंकार आदि पवित्र करने वाले नामों का जप और मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहा जाता है'।[24] मोक्ष शास्त्रों में वेद, उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थ आते हैं। सुविधानुसार भिन्न-भिन्न साधक विभिन्न तरीकों से स्वाध्याय करते हैं। कोई जप करता है तो कोई किसी अध्यात्म ग्रन्थ का अध्ययन करता है और कोई सत्संग करके स्वाध्याय की पूर्ति कर लेता है। स्वाध्याय से साधक का मन पवित्र होने लगता है। कैवल्य प्राप्ति के लिए साधक में एक जिज्ञासा होती है। स्वाध्याय करे फिर योग करें और फिर स्वाध्याय करें। इस प्रकार करने से साधक की मोक्ष की ओर प्रगति होती है।

(उ) ईश्वर प्रणिधान :

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वर की विशेष भक्ति है। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य और आभ्यान्तर करणों एवं उनसे होने वाले समस्त कर्मो और उनके फलों को अर्थात् सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यान्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है। भोजवृत्ति के अनुसार 'सर्वक्रियाओं को फल की अपेक्षा से रहित उस परम गुरु को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।[25]

ईश्वर प्रणिधान का महत्त्व :

ईश्वर प्रणिधान से समाधि में शीघ्र ही सफलता मिलती है।[26] साधक को योग विघ्नों से छुटकाना मिलता है। सामान्य रूप से भी देखते हैं तो ऐसा लगता है कि ईश्वर प्रणिधान आध्यात्म क्षेत्र का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। ईश्वर प्रणिधान भक्ति योग का महत्वपूर्ण अंग है और गीता के कर्मयोग और श्री अरविन्द के पूर्णयोग का मूल सिद्धान्त है। इस प्रकार से क्रियायोग निम्न श्रेणी के साधक के लिए है जैसा कि कहा भी गया है- 'मध्यम अधिकारियों के लिए वस्तुतः अष्टांगयोग ही साधन रूप है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान नियम के ही तीन अंग हैं। इनसे व्यावहारिक जीवन को शुद्ध और सात्विक बनाया जा सकता है। जिससे चित्त निर्मल होकर अष्टांगयोग पर सुगमता से आरूढ़ हो सकता है।[27]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार समाधिपाद में जिन समाधियों की बात की गयी है, उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए धीरे-धीरे विभिन्न सोपानों में से होते हुए उन सब समाधियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके पहले सोपान को 'क्रियायोग' कहते हैं, जिसका शब्दार्थ है कर्म के सहारे योग की ओर बढ़ना।[28]

यम, नियम का पालन करते हुए साधक के मन में कभी-कभी विरोधी विचार उठा करते हैं यथा यह सोचना कि झूठ भी बोलूँगा, दूसरों का अपकार भी करूँगा आदि-आदि। साधक की यह दशा किसी बाधा के आने पर या साधक के अधैर्यवान हो जाने पर भी होती है। ऐसी स्थिति में उनके विरूद्ध पक्षों का विचार करना चाहिए।[29] उस समय विचार करना चाहिए कि मैंने जिन क्लेशों से बचने के

लिए योग की शरण ली है। अब फिर क्या उन्हीं क्लेशों में जा फंसू? इस प्रकार के चिन्तन से साधक यन-नियम के पालन में दृढ़ रह सकता है।

यम और नियम का महत्व :

यम और नियम राजयोग साधना के प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण अंग हैं। बिना इनके पालन के किये राजयोग की साधना असम्भव है। साधक को सफलता प्राप्ति के लिए इनका पालन अवश्य ही करना चाहिए। इनके महत्व पर बल देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'यम और नियम चरित्र निर्माण के साधन हैं। इनकी नींव बनाये बिना किसी तरह की योग साधना सिद्ध न होगी। यम और नियम के दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी अपनी साधना के फल का अनुभव करना आरम्भ कर देते हैं। इनके न रहने पर साधना का कोई फल न होगा'।[30] श्री अरविन्द के अनुसार भी 'राजयोग आसन और प्राणायाम से आरम्भ नहीं करता बल्कि पहले मन की नैतिक शुद्धि के लिए आग्रह करता है। यह प्रारम्भिक साधन परम महत्त्वशाली है, इसके बिना शेष राजयोग का मार्ग कष्टों और बाधाओं से संकुल और अप्रत्याशित मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक कष्टों से पूर्ण हो सकता है। उसकी प्रचलित प्रणाली में यह नैतिक शुद्धि पांच 'यम' और पांच 'नियम' इन दो वर्गो में विभक्त है'।[31]

3. आसन :

यम और नियम का पालन चलते-फिरते हर समय किया जा सकता है। परन्तु प्राणायाम, ध्यान आदि क्रियाओं को करने के लिए स्थिर भाव से रहना पड़ता है। जिसके लिए आसन की आवश्यकता पड़ती है। 'जिस अवस्था में शरीर बिना

हिले-डुले स्थिरतापूर्वक तथा सुखपूर्वक रह सके, वहीं आसन है'।[32] अर्थात् सुखपूर्वक बैठने की किसी भी विधि का नाम आसन है।[33] स्वामी विवेकानन्द के अनुसार- 'मेरुदण्ड के ऊपर जोर न देकर कमर, गर्दन और सिर सीधा रखने की किसी स्थिति में रहने का नाम आसन है'।[34]

आसन के प्रकार :

किसी साधक को किसी एक आसन पर सुविधा होती है तो किसी को किसी दूसरे पर। इस आधार पर कई प्रकार के आसन हो सकते हैं। योग के कुछ आसन निम्नलिखित हैं - सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन, सुखासन, वज्रासन आदि।

आसन करने के पूर्व तैयारी :

1. शौचादि से निवृत्त हो जाना चाहिए।
2. आसन का स्थान धूलि, धूम्र, दुर्गन्ध आदि से रहित होना चाहिए।
3. नीचे कोई आसन बिछा लेना चाहिए।
4. आसन का स्थान समतल तथा सूखा होना चाहिए। गीता में भी इसके बारे में ऐसा ही संकेत किया गया है।[35]

सावधानियाँ :

(क) अभ्यासी को दुष्पच, रूक्ष और बासी तथा आवश्यकता से अधिक भोजन ग्रहण नहीं करना है।

(ख) अत्यधिक परिश्रम,-अत्यधिक जागरण तथा अत्यधिक निद्रा भी त्याज्य है।

(ग) आसनाभ्यास सामर्थ्य से अधिक नहीं करना चाहिए क्योंकि सामर्थ्य से अधिक करने से शरीर व्याधिग्रस्त हो सकता है। इसलिए आसन का समय धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए।

(ग) बीच बीच में व्यवधान नहीं होना चाहिए।

आसन करने की विधि :

1. **सिद्धासन :** बाएं पैर की एड़ी को गुदा और उपस्थेन्द्रिय के मध्य सीवन स लगायें। अब दायें पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय के ऊपर उसके मूल में लगायें। दायें पैर का पंजा बाएं पैर की पिंडली और जंघा के बीच में तथा बाएं पैर का पंजा दाएं पैर की पिंडली और जंघा के बीच में रखें। हाथों को सुविधानुसार दोनों घुटनों पर या गोद में रख दें। कमर और गर्दन एक सीध में रहे।

2. **पद्मासन :** दाहिने पैर को बाई जांघ पर इस प्रकार रखें कि एड़ी जांघ के मूल में लगे। अब बायें पैर को दाहिनी जांघ पर उसी प्रकार रखें। हाथों को सुविधानुसार रखकर कमर और गर्दन को सीधी रखें।

3. **वीरासन :** दाहिने पैर को बाई जांघ पर इस प्रकार रखें कि एड़ी जांघ के मूल में लगे। अब बायें पैर को दाहिने घुटने के नीचे रखें तथा दोनों हथेलियों को घुटनों पर रख दें।

4. **सुखासन :** इसे पालथी भी कहते हैं। बायीं टांग को अन्दर की तरफ रखकर दायां पैर घुटने के नीचे रखें। अब बायां पैर दाहिने घुटने के नीचे रखें। हाथों को यथा स्थान रखें।

5. वज्रासन : दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर और नितम्बों को पैरों के ऊपर रखकर बैठ जायं। कमर, गर्दन सीधे रखते हुए दोनों हाथों को घुटने पर टेक दें।

आसन सिद्धि में सहायक :

- जब बैठने का अवसर मिले तब आसन विशेष पर ही बैठने का प्रयत्न करना चाहिए।
- जिस आसन में सुविधा हो उसी का अभ्यास करना चाहिए।
- आसन दृढ़ है और कोई भी उसे हिला नहीं सकता, ऐसा संकल्प सहायता करता है।
- प्रयत्न की शिथिलता अर्थात् देह कम्पन आदि का न होना तथा चित्त को अनन्त में इस प्रकार लगा देवें कि बीच में कोई व्यवधान न हो।[36]

4. प्राणायाम :

प्राणायाम नियंत्रित श्वसनिक व्यायामों से सम्बद्ध है। स्थूल रूप में यह जीवन धारक शक्ति अर्थात् प्राण से सम्बन्धि है।[37] आधार रूप में प्राणायाम के तीन अंग है- 1. पूरक (श्वास को अन्दर खींचना), 2. कुम्भक (श्वास को रोकना), 3. रेचक (श्वास को बाहर छोड़ना)। कुम्भक का प्रयोग पूरक तथा रेचक की अवस्था में भी किया जा सकता है। जिसे क्रमशः आभ्यान्तर तथा बाह्य कुम्भक कहते हैं। प्राणायामों की संख्या अनेक बतलायी गयी है, परन्तु आठ प्रकार के प्राणायाम महत्वपूर्ण है- (अ) उज्जयी- तीव्र उच्चारण करना, (ब) सूर्यभेदन या सूर्यनाड़ी- दाहिनी नाक से श्वास खींचना, (स) शीतकारी-श्वास खींचते समय विशिष्ट प्रकार

की ध्वनि करना। (द) शीतली- जीभ को बाहर निकालकर श्वास अन्दर खींचकर शैत्य उत्पन्न करना, (य) भस्त्रिका- धौंकनी की तरह श्वाँस लेना, (र) भ्रामरी- अन्तःश्वसन तथा निःश्वसन में मधुमक्खियों की भनभनाहट का अनुकरण करना, (ल) मुर्च्छा-मस्तिष्क को अक्रियाशील रखना तथा (व) प्लाविनी- जिससे मनुष्य प्राणायाम के समय पानी में तैर सकें।

प्राणायाम के सन्दर्भ में नाड़ी-विज्ञान का विशेष महत्व है, कई उपनिषदों में प्राणायाम के सन्दर्भ में नाड़ी चक्र का उल्लेख है और प्राणायाम को नाड़ी शुद्धि का उपाय स्वीकार किया गया है। यह अग्निवर्द्धक तथा दीर्घायुष्कर है। दर्शनोपनिषद् में विभिन्न प्रकार की नाड़ी की शुद्धियों का उल्लेख है तथा नाड़ी शुद्धि को जीवनमुक्ति का प्रवर्तक स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में विभिन्न नामों से अनेक नाड़ियों का उल्लेख है। जिनमें से इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना महत्वपूर्ण है। ऐसा माना गया है कि इन नाड़ियों से दशविध वायु का संचार होता है।[38]

प्राणायाम यद्यपि श्वसनिक व्यायाम है, फिर भी इसका प्रयोग विशिष्ट ढंग से क्रमबद्ध शरीरक्रियात्मक विकास तथा मनोदैहिक विक्रान्ति के लिए करते हैं। प्राणायाम से अन्तः स्रावी ग्रन्थियों तथा उपचयात्मक क्रियाओं का विकास, हृदय तथा फुफ्फुसों की क्रिया में सुधार होता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार भी प्राणायाम केवल श्वसनिक व्यायाम ही नहीं, अपितु विशिष्ट प्रकार की विधि है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता का अनुभव होता है।

प्राणायाम की आवश्यकता :

प्राणायाम द्वारा साधक प्राण पर विजय प्राप्त करता है। 'जिस प्रकार अग्नि से धौंके हुए स्वर्णादि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने

से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।[39] प्राणायाम द्वारा से ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण नष्ट हो जाता है[40] और साधक में धारण की योग्यता आती है[41] तथा मन पर अधिकार होता है।

सावधानियाँ :

- रूग्णावस्था में प्राणायाम नहीं करना चाहिए।
- भूख से पीड़ित तथा भोजनादि के उपरान्त उदर के परिपूर्ण होने की अवस्था में प्राणायाम नहीं करना चाहिए क्योंकि भूख से पीड़ित अवस्था में प्राण प्रकुपित होने का डर रहता है तथा सम्पूरित उदर अवस्था में तमस् का प्रभाव पड़ता है।
- अनुभवी पुरुषों की देख-रेख में ही प्राणायाम करना चाहिए तथा सामर्थ्य से अधिक नहीं करना चाहिए।
- प्राणायाम का स्थान, धूल, धूम्र तथा दुर्गन्ध आदि से रहित होना चाहिए।

5. प्रत्याहार :

'इन्द्रियों का अपने विषयों को त्यागकर चित्त स्वरूप के अनुकूल होना प्रत्याहार कहलाता है'।[42] प्रत्याहार में इन्द्रियों को विषयों से विमुख किया जाता है।[43] इस प्रकार इन्द्रियों का चित्त के अधीन होना अर्थात् इन्द्रियों पर अधिकार होना प्रत्याहार कहलाता है। उपनिषदों में पाँच प्रकार का प्रत्याहार बतलाया गया है।

(अ) ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों की तरफ जाने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति को शक्तिपूर्वक रोकना।

(आ) मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य जगत् में ब्रह्म के ही दर्शन करना।

(इ) अपने समस्त दैनिक कर्मों के फलों का त्याग व समस्त जीवन को ब्रह्मार्पित करना।

(ई) समस्त इन्द्रियों से मुँख मोड़ना।

(उ) मर्म स्थानों पर प्राण वायु का एक निश्चित क्रम से स्थापना करते चलना।[44]

प्रत्याहार की आवश्यकता :

इन्द्रियों के वश में हुए बिना चित्त स्थिर नहीं होता है क्योंकि इन्द्रियाँ अति बलवान हैं। ये विषयाभिमुख हुए पुरुष को क्षुब्ध कर देती हैं तथा मन का भी बलात् हरण करके उसे अपने अनुकूल कर लेती है'।[45] बुद्धिमान मनुष्यों को इन्हें अपने वश में रखना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं उसकी बुद्धि भी स्थिर हो जाती है'।[46] जिस प्रकार नाव में एक छोटा सा छिद्र भी नाव को डुबो देता है, उसी प्रकार साधक एक भी इन्द्रिय के वश में होने के कारण असफल हो जाता है। अपने विषयों में प्रसक्त इन्द्रियों का प्रत्याहार से निग्रह हो जाता है।[47] योग के अन्य उत्तरोत्तर अंगों में सफलता तभी सम्भव होती है जब इन्द्रियों पर सम्पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जाता है इसलिए प्रत्याहार की सिद्धि आवश्यक है क्योंकि प्रत्याहार से ही इन्द्रियों पर पूर्ण विजय होती है।[48]

प्रत्याहार के साधन :

साधक को विषयों के भोग से दूर रहना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग किया जाता है उसी प्रकार उनकी भूख बढ़ती जाती है। थोड़ी सी लापरवाही से इन्द्रियों की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। यदि किसी इन्द्रिय की

प्रवत्ति बढ़ गयी तो साधक के लिए यह आवश्यक है कि जब-जब वह इन्द्रिय विषय में प्रवृत्त होना चाहे तब-तब मन को किसी अन्य तरफ लगा दें। ऐसा करने से विषय प्रवृत्ति कम हो जाती है।

प्राणायाम भी प्रत्याहार सिद्धि का साधन है। धारणा ध्यान आदि से प्राणायाम की क्रिया स्थूल है इससे इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते है।[49]

प्रत्याहार का विशेष साधन वैराग्य है। विषयों से वैराग्य होने पर इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ विषयों से हट जाती है। जब इहलोक और परलोक के समस्त विषयों से वैराग्य हो जाता है तब इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी शान्त हो जाती है। जब इन्द्रियों की प्रवृत्ति विषयों की ओर होवें तब विषयों की असारता एवं उनसे होने वाली हानियों आदि दोषों का चिन्तन करने से प्रवृत्ति कम होती है और तीव्र वैराग्य इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को वापस खींच लेता है।

विशेष- यद्यपि साधना के प्रथम अंग से ही इन्द्रियों का निग्रह अप्रत्यक्ष रूप से आरम्भ हो जाता है तथापि इन्द्रिय निग्रह का प्रत्यक्ष और प्रबल साधन प्रत्याहार ही है। इसीलिए सूत्रकार ने इसका अलग वर्णन किया है।

6. धारणा :

'चित्त वृत्ति को किसी देश में बाधना धारणा कहलाता है'।[50] धारणा के अन्तर्गत यदि एक वृत्ति कुछ देर ध्येय पर रूकने के बाद हट जाती है और अन्य वृत्तियाँ उठने लगती हैं तब वृत्तियों को पुनः ध्येय पर लगाया जाता है। धीरे-धीरे अन्य वत्तियों का उठना घटता जाता है। धारणा का देश बाह्य भी हो सकता है और आन्तरिक भी। धारणा की वस्तु उत्तम होने से चित्त भी शुद्ध होता है। इनमें से बाह्य देश शरीर से अलग कोई फूल, मूर्ति, दीपक की लौ, चन्द्रमा अथवा कोई

शब्द आदि भी हो सकता है। आन्तरिक देश वह है जो साधक के शरीर में ही हो, जैसे नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धाज्योति, नासिक का अग्र भाग अथवा जिह्वा का अग्रभाग आदि।[51]

7. ध्यान :

धारणा का अभ्यास दृढ़ होने पर साधक की ऐसी स्थिति हो जाती है कि वृत्तियों का प्रवाह बीच-बीच में नहीं टूटता है। धारणा की इस अवस्था को ध्यान कहते है। अतः जिस विषय में धारणा की गयी हो उसी ध्येय विषयक ज्ञान (वृत्तियों का समान प्रवाह) ध्यान कहलाता है'।[52] समान प्रवाह का अभिप्राय यह है कि दूसरी वृत्ति बीच में न आये। जिस प्रकार से तेल की धारा गिरती है, बीच-बीच में टूटती नहीं उसी प्रकार ध्यान में वृत्तियाँ ध्येय पर ही रहती है। जब तक साधक ध्यान करता है तब तक वृत्तियाँ ध्येय पर ही होती हैं। ध्यान का समय धीरे-धीरे बढ़ता जाता है तथा इसकी स्थिति भी उत्तमोत्तम होती जाती है।

8. समाधि :

अभ्यास करते-करते साधक के ध्यान की प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है जिसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आने लगती है जिसमें कि साधक को स्वयं का तथा ध्यान रूपी क्रिया का भी बोध नहीं रहता बल्कि केवल ध्येय मात्र रह जाता है। अतः ध्यान में केवल ध्येय मात्र का रह जाना तथा अपना स्मरण भी योगी को न रहना इस गति को समाधि कहते है।[53] समाधि चित्त स्थिरता की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। ध्यान और समाधि में यह अन्तर है कि ध्यान में साधक ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकत्रीकरण होने पर भी साधक को उनकी पृथकता का स्पष्ट अनुभव रहता है। समाधि में केवल ध्येय ही रहता है। अपना तथा ध्यान की

क्रिया का बोध नहीं रहता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समाधि में ध्यान का सर्वथा अभाव हो जाता है बल्कि ध्यान होने पर भी उसका बोध साधक को नहीं रहता है क्योंकि ध्यान का अभाव होने पर तो ध्येय का भान भी होना असम्भव ही है। पहले साधक को 'सम्प्रज्ञात' अर्थात् सबीज समाधि की प्राप्ति होती है जिसमें त्रिपुटी का अभाव होने पर भी संसार का बीज विषय के ध्येयाकार वृत्ति रूप से विद्यमान रहता है'।[54] धीरे-धीरे जब इस ध्येयाकार वृत्ति का भी अभाव हो जाता है तब सब वृत्तियों के निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि होती है'।[55]

इस प्रकार से यह अष्टांग साधना जो मध्यम अधिकारियों के लिए है, यम, नियम से आरम्भ होकर समाधि तक है। अष्टांग पथ का क्रम क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होता हुआ चित्त की निरूद्धावस्था को प्राप्त कराता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने वाली इस अष्टांगी योजना के अन्तर्गत यम, नियम एक प्रकार से साधना के लिए पूर्व तैयारी है। वे आगे की साधना का आधार प्रदान करते है। शरीर पर आसन के द्वारा, प्राण पर प्राणायाम द्वारा, इन्द्रियों पर प्रत्याहर द्वारा तथा धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा चित्त की वृत्तियों पर अधिकार किया जाता है। इनमें से पहले पाँच अंग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, व प्रत्याहार बाह्य साधन कहलावे हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरङ्ग.योग के अन्तर्गत रखा गया है।

स्वास्थ्य रक्षा में योग दर्शन की उपयोगिता

योग विज्ञान प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक उत्कृष्टतम धरोहर है। परन्तु हमारे समाज में इसकी सर्वस्वीकृति पश्चिमी देशों की मंजूरी मिलने के बाद ही हो पाई है और अब हम इसे विश्व को दिया गया भारतीय अनुदान कह कर गौरवान्वित महसूस करने लगे है। योग विज्ञान के प्रति जागरूकता और उत्सुकता बढ़ाने में हमारे प्रचार माध्यमों का विशेष योगदान रहा है परन्तु अभी भी इस प्राचीन विज्ञान की उपादेयता तथा मूल स्वरूप के बारे में सही जानकारी जन सामान्य में सुलभ नहीं हो सकी है। साधारणतया लोग योग को ध्यान लगाने की तकनीक तथा कतिपय आसनों और शारीरिक व्यायामों की प्रक्रिया मात्र समझते हैं। यह सही है कि ये दोनों ही इस विज्ञान के विशिष्ट तथा अत्यन्त उपयोगी अंग है परन्तु मात्र इन्हें ही शास्त्रोक्त प्राचीन भारतीय अष्टांगयोग मानकर इस अत्यन्त सजीव विज्ञान के अन्य उत्कृष्ट आयामों और 'योगः कर्मसु कौशलम्' तथा 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' जैसे महामंत्रों में छुपी हुई मूल भावना की अनदेखी हो रही है।

योग के द्वारा रोगों की चिकित्सा किये जा सकने की संभावनाओं पर पिछले कई दशकों से वैज्ञानिक और चिकित्सक वर्ग में मंथन और अन्वेषण होते रहे हैं और इनके आशाजनक परिणाम मिले हैं। योग के द्वारा न केवल बहुतागत से होने वाली अनेक बीमारियों यथा उक्त रक्तचाप, आमाशय व्रण तंत्रिकातंत्र संघात जन्य रोग तथा मधुमेह आदि की रोकथाम में मदद मिल रही है अपितु इनके सक्रिय उपचार में भी सहायता मिलने की संभावना भी है। योग विज्ञान के इन प्रत्यक्ष लाभकारक उपादानों के अतिरिक्त अन्य सर्वाधिक संभाव्य उपयोगी क्षेत्रों के अन्तर्गत है सामाजिक अवमूल्यन की रोकथाम तथा व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यक्षमता में

वृद्धि जैसे महत्वपूर्ण, अतः अद्यतन असपृष्ट पक्ष समाहित है। आधुनिक परिवेश में योग की उपयोगिता वाले क्षेत्रों की योजना निम्न प्रकार से की जा सकती है-

1. चिकित्सा क्षेत्र में : रोगों की रोकथाम तथा उनके सक्रिय उपचार के लिए।
2. व्यक्तिगत तथा सामूहिक व्यक्तित्व के विकास के लिए।
3. सामाजिक विखंडन तथा अवमूल्यन की रोकथाम के लिए एक सकारात्मक उपाय के रूप में।

इन सभी क्षेत्रों में योग की उपयोगिता की असीम संभावना है परन्तु इसे किस तरह और किस प्रारूप में प्रयोग किया जाय कि इसका अधिकतम लाभ हमें मिल सके यह अभी बेहतर ढंग से निर्धारित किया जाना बाकी है। अपने लाभ के लिये इस विज्ञान के सार्थक उपयोग के बारे में सम्यक रूप से विचार कर पाने के लिये योग के मूल दर्शन के विषय में जानकारी होना अपेक्षित है।

योग वस्तुतः भारतीय दर्शन की मूल परम्परा में उपजा विज्ञान है जिसका मूल उद्देश्य आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार कराकर परम सत्य का ज्ञान और जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति देने है। अलंकारिक भाषा में वर्णित इस दर्शन का उद्देश्य व्यक्ति की क्षमताओं का उत्कृष्टतम उपयोग करना है। आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार का अर्थ है उन्नति की उत्कृष्टतम ऊँचाइयों तक पहुँचना। योग इन ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए आवश्यक शारीरिक व मानसिक साधनाओं का माध्यम है। जीवन के इस परम लक्ष्य को पाने के लिये शरीर तथा मन को कड़ी परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। जीवन के मूल सत्य की खोज में लगे सत्यार्थियों की ये परीक्षायें वस्तुतः आजकल की प्रतियोगात्मक परीक्षाओं के समान ही होती है और इसमें कड़ी होड़ भी होती है। योग विज्ञान अपने प्रशिक्षुओं को क्रमबद्ध ढंग से इस

परीक्षा में आने वाली कठिनाईयों के लिये सक्षम बनाता हुआ अंत में सफलता के रूप में सत्य का साक्षात्कार कराता है। इस परीक्षा की तैयारी अथवा इस परीक्षा के ही विभिन्न अंगों के रूप में अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से इसके आठ अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) की अवस्था आती है जिसके परिणामस्वरूप जीवन के परम सत्य का साक्षात्कार होता है। यह योग विज्ञान का मूल प्रारूप और उसका समेकित उद्देश्य है जो इसके प्रणेताओं ने प्रस्तुत किया था। आधुनिक परिवेश में इस तरह की दार्शनिक विषय वस्तु पर सहसा व सहज ढंग से विचार नहीं किया जा सकता अतः हमने अब अपने दृष्टिकोण के अनुरूप इसकी उपयोगिता के संभाव्य क्षेत्रों का निर्धारण कर लिया है। कहना समीचीन होगा कि स्वास्थ्य और व्यक्तिगत विकास के लिये योग की उपादेयता वस्तुतः इस विस्तृत विज्ञान के मूल उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये गये प्रयासों के उप उत्पाद हैं।

योग से चिकित्सा तथा रोगों की रोकथाम :

योग द्वारा चिकित्सा की संभावनाओं पर विचार करते समय भी प्रायः अज्ञानतावश आसनों आदि को ही विशेष महत्व दिया जाता है। व्यावहारिक शारीरिक दृष्टिकोण से तथा मांसपेशीगत, स्नायुगत और तंत्रिका तंत्र के कुछ रोगों के लिये ये प्रक्रियायें तात्कालिक रूप से लाभप्रद सिद्ध हो सकती है परन्तु प्राचीन शास्त्रों में समग्र वेदनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति के मार्ग के उपाय के रूप में 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है। वस्तुतः योग के प्रति हमारा यह नया दृष्टिकोण भी हमारा अपना न होकर पश्चिम से आयातित है जहाँ कम समय में अधिकाधिक लाभ की नीति का अनुपालन किया जाता है। इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर हमने योगासनों की ओर अत्यन्त लालायित रूप से अपने कदम बढ़ाये इन अपेक्षाओं

के साथ कि शायद दिन भर में पांच मिनट के किये गये आसनों और व्यायामों को करने के बाद हम सभी रोगों से छुटकारा पा सकेंगे और सदा स्वस्थ रहेंगे। इसी तरह अपने जीवन भर की गलत खान-पान और रहन-सहन की आदतों के कारण रोग ग्रस्त हुये लोग सोचते हैं कि कुछ शारीकि कसरतें करने मात्र से उन्हें उनके रोगों से मुक्ति मिल जायेगी और वे अपनी आदतों को भी बरकरार रख सकेंगे। इन दोनों ही दृष्टिकोण के लोगों को अंततः योग से निराशा हाथ लगती है क्योंकि इसका लाभ वस्तुतः तभी लिया जा सकता है जब हम इसका अनुपालन समष्टि रूप में करें।

योग में चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी अंगों में षट्कर्म भी प्रमुख हैं। इनमें नेति, धौति, वस्ति, कपाल-भाति, नौलि और त्राटक आदि विभिन्न प्रक्रियायें समाविष्ट है जो मूलतः शारीरिक अंतः शोधन को सुनिश्चित करती है। नेति-नाक से श्वास लेने के रास्ते को हल्के गुनगुने नमकीन पानी से फिर कपास के धागे से साफ करने की प्रक्रिया है। इससे श्वास मार्ग में जमा हुये अवरोध दूर हो जाते हैं। श्वास मार्ग की कोशिकाओं के ऊपर जमी मल की पर्त दूर हो जाने से उनकी कार्य क्षमता बढ़ जाती है इससे न केवल सूँघने की क्षमता में सुधार लाया जा सकता है बल्कि नाक तथा श्वास मार्ग की जीर्ण व्याधियों से भी छुटकारा पाया जा सकता है। धौति की प्रक्रिया आमाशय को उत्तेजित करने तथा स्वच्छ करने के उद्देश्य से की जाती है। एक साफ कपड़े की लम्बी पट्टी को निगलकर धीरे-धीरे वापस निकालते हैं। आमाशय की कोशिकाओं को पुनः सक्रिय करने तथा आमाशय को स्वच्छ करने के लिए यह प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी है। अम्ल पित्त, अजीर्ण,

आदि व्याधियों में यह प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मलाशय तथा बड़ी आंत की स्वच्छता के लिये वस्ति का प्रयोग किया जाता है।

योगासनों की रोग चिकित्सा में उपयोगिता अब एक प्रमाणित तथ्य बन चुकी है। आसन वस्तुतः कुछ विशेष प्रकार के शारीरिक व्यायाम है जिसमें एक विशिष्ट मुद्रा में निश्चित अवधि के लिये श्वास-प्रश्वास का नियमन किया जाता है। सामान्य रूप से आसनों द्वारा शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों में किसी अंग या प्रत्यंग विशेष पर रक्त, आक्सीजन एवं पोषण के सम्यक् संचार के द्वारा वहाँ के स्नायु तंतुओं को विशेष रूप से सक्रिय करना होता है। शरीर का यह समायोजन आसन विशेष के अनुरूप अपेक्षित होता है अर्थात् विशिष्ट मुद्राओं द्वारा विभिन्न अंगों को अधिक सक्रिय बनाया जा सकता है। यद्यपि आसनों द्वारा शरीर क्रियात्मक प्रभाव इससे कहीं अधिक जटिल होते है तथापि सामान्य जानकारी के लिये इन्हें ध्यान में रखा जा सकता है।

योग के अनुपालन का सर्वाधिक प्रभाव हमारे मन पर होता है। एक बार योगदर्शन में अनुरक्त हो जाने के बाद मस्तिष्क के भावना केन्द्रों पर अपेक्षानुरूप नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। मन से उत्पन्न-अदृश्य परन्तु कालान्तर में शारीरिक रूप से अभिव्यक्त होने वाले रोगों यथा उच्च रक्तचाप (हाइपरटेंशन), श्वास रोग (अस्थमा), मधुमेह, पेट के अल्सर और मानसिक अवसाद (डिप्रेशन) आदि के लिये योग को अब एक निश्चयात्मक चिकित्सा के रूप में प्रयोग में लाया जा रहा है।

रोगोत्पत्ति के निषेध एवं प्रतिषेध के क्षेत्र में योग की उपयोगिता का क्षेत्र अति वृहत् हो सकता है। योगोक्त यम तथा नियम वस्तुतः सामाजिक व्यवहार के

नियम हैं। आसन हमें विभिन्न प्रकार की कष्टकर शारीरिक अवस्थाओं के प्रति क्षम बनाते हैं। प्राणायाम शरीर की ऊर्जा को बढ़ाने और शरीर के सभी तंतुओं को ऊर्जावान बनाने का उपाय है। प्रत्याहार रोगों से बचाव से सम्बन्धित सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। जैसा कि हम सभी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि अधिकांश रोग हमारी स्वयं की लापरवाही तथा इन्द्रिय लोलुपता के कारण होते हैं। इन्द्रियों के आत्मनियंत्रण का प्रयास ही प्रत्याहार द्वारा किया जाता है। स्पष्ट है कि योग के सिद्धान्तों का मूल रूप में अनुपालन सुनिश्चित कर लेने के बाद जीवन में रूग्णता का कोई भविष्य बाकी नहीं रहता।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक व्यक्तित्व के विकास के लिये योग :

व्यक्तित्व के विकास के लिये योग का उपयोग सम्भवत: अगली शताब्दी की महत्वपूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धियों में से एक होगा। किसी भी कार्य क्षेत्र में सम्पूर्ण विकास के लिये एक विशिष्ट कार्य संस्कृति विकसित करने की आवश्यकता पड़ती है। यह कार्य संस्कृति उस क्षेत्र की अपेक्षाओं और उसके रास्ते में आने वाली संभाव्य बाधाओं को ध्यान में रखते हुए विकसित की जाती है। सफलता के रास्ते की ऊँचाइयों पर चढ़ने के लिए हमें न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक रूप से भी सजग और स्वस्थं रहने की आवश्यकता पड़ती है। कई बार हम अपनी क्षमताओं का पूरा उपयोग इसंलिये नहीं कर पाते क्योंकि या तो हम उनके प्रति जागरूक नहीं होते और या फिर हमें अपनी क्षमताओं के प्रदर्शन के लिये उपयुक्त अवसर और परिवेश नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त बढ़ती हुई पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और द्वन्द के कारण उपजी कुंठा और निराशा भी हमारी क्षमताओं का ह्रास करती है। जीवन और कार्य शैली के प्रति सकारात्मक और उत्साही दृष्टिकोण विकसित करने में योग की

प्रक्रियायें बेहद उपयोगी पाई गई है। कई अध्ययनों में विभिन्न कार्य क्षेत्र के लोगों में कुछ सप्ताह के प्राणायाम, ध्यान तथा आसनों के अभ्यास के उपरान्त उनकी कार्य प्रणाली में उसी क्षेत्र में कार्यरत अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सकारात्मक परिवर्तन पाये गये हैं। इससे उत्साहित होकर अब अनेक संस्थाओं द्वारा कर्मचारियों के लिये ऐच्छिक रूप से योग की सुविधा उपलब्ध कराई जा रही है। यहीं नहीं, सेवानिवृत्ति के उपरान्त जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण कैसे अपनायें और स्वस्थ कैसे रहें इस विषय पर दिये जाने वाले सुझाओं में योग को अब एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकारा गया है। व्यक्तितत्व के विकास में योग का सबसे महत्वपूर्ण योगदान सकारात्मक दृष्टिकोण के विकास तथा सहयोगियों से बेहतर ताल-मेल की सम्भावना को लेकर है। स्पष्ट है कि ये दोनों ही तथ्य न केवल व्यक्तिगत बल्कि समुदाय के सामूहिक हित के लिये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

योग की सामाजिक उपादेयता :

योग के अभ्यास का यह सबसे विस्तीर्ण तथा सम्भवतः दूरगामी पहलू है। प्रत्यक्ष रूप से देखने पर हमें इसका आभास नहीं होता परन्तु चूँकि व्यक्ति ही समाज की ईकाई है अतः व्यक्तिगत परिवर्तनों का सामाजिक रूपान्तरण एक आवश्यक घटना है भले ही उसका प्रत्यक्षीकरण कुछ देर से होता है। जब हम व्यक्तिगत स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यम, नियम, आसन या प्रत्याहार की बात करते है तब अनजाने में ही हम अपने अर्न्तमानस का शुद्धिकरण भी करते चलते हैं। इन्द्रिय लोलुपता शारीरिक रोगों और सामाजिक रोगों का भी कारण है। जब हम अपने निजी हित के लिये इन्द्रिय दमन की साधना करते हैं ठीक उसी समय हम अपने समाज की बुराईयों का दमन भी कर रहे होते हैं क्योंकि सामाजिक व्यवहार

हमारे निजी हितों का प्रतिरूप ही होता है। सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास तथा समाज में सहयोगियों से बेहतर ताल-मेल समाज विज्ञान की दृष्टि से एक युग परिवर्तनकारी घटना हो सकती है। स्पष्ट है कि योग को जितने व्यापक और उदार रूप से हम अपनायेंगे उतने ही शीघ्र और व्यापक तथा विस्मयकारी परिणामों को हम अपने सामने पायेंगे।

सन्दर्भ-सूची

1. योगागांनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्याति। (योग दर्शन 2/28)
2. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा: (यो0सू0 2/30)
3. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह: (व्यासभाष्य. यो0सू0 2/30)
4. योहिंसाकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
   स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेद्यते।। (मनुस्मृति 5/45)
5. उत्तरे च यमनियमास्तन्मूला:।
   तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते।। (व्यासभाष्य यो0सू0 2/30)
6. सत्यस्य वचनं श्रेय: सत्यादीप हितं वदेत्।
   यद्भूतहितमत्यन्तमेततत्सत्यं मत मम्।। (महाभारत शान्तिपर्व)
7. एषा सर्वभूतापकारार्थ प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/30)
8. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
   प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म: सनातन।। (मनुस्मृति 4/138)
9. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणं तत्प्रतिषेध:।
   (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/30)
10. ब्रह्मचर्यमुपरस्थसंयम:। (भोजवृत्ति, यो0सू0 2/30)
11. अपरिग्रहोभोगसाधनानामनंगीकार। (भोजवृत्ति, यो0सू0 2/30)
12. शौचसंतोषतप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:। (यो0सू0 2/32)
13. तत्रशौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्।
    (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/32)
14. चित्तमलानामाक्षालनं आभ्यान्तरम्। (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/32)
15. संतोष संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/32)
16. संतोषस्तुष्टि। .(भोजवृत्ति, यो0सू0 2/32)

17. संतोष परमास्थाय सुखार्थी संयतोभवेत्।
संतोषमूलं हि सुख दुःखमूलं विपर्ययः।। (मनुस्मृति 4/12)

18. तपो द्वंद्वसहनम्। (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/32)

19. देवद्विजगुरू प्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते।। (गीता 17/14)

20. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वागंमयं तप उच्यते।। (गीता 17/15)

21. श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं पश्चिक्षते।। (गीता 17/17)

22. सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। (गीता 17/18)

23. मूढग्राहेणात्मनो यत्पीऽया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। (गीता 17/19)

24. स्वाध्यायः प्रणवदिपवित्राणां जपेन मोक्षशास्त्रध्ययनं वा।
(व्यासभाष्य, यो0सू0 2/1)

25. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिनपरमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम्।
(भोजवृत्ति, यो0सू0 2/1)

26. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो0सू0 2/45)

27. स्वामी ओमानन्द तीर्थ, पातंजलयोग प्रदीप, पृ0 153.

28. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृ0 151.

29. (क) तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्। (व्यासभाष्य, यो0सू0 2/32)
(ख) वितर्कवाधने प्रतिपक्षभावनम्। (यो0सू0 2/33)

30. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, पृ0 48.

31. श्री अरविन्द, योग समन्वय, पृ0 618.

32. स्थिरसुखमासनम्। (यो0सू0 2/46)

33. आस्यतेऽनेनेत्यासन्। (भोजवृत्ति, यो0सू0 2/46)

34. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृ0 48.

35. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। (गीता 6/11)

36. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। (यो0सू0 2/47)

37. (क) तस्मिन् सति श्वास प्रश्वांसयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।(यो0सू0 2/49)
(ख) बाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसड.ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(यो0सू0 2/50)

38. एवमेतेषु नाड़ीषु चरन्ति दश वायवः। (वाराह0 5/31)

39. दहयन्तेध्यायमानां धातुना ही यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दहन्ते दोषाः प्राणस्यनिग्रहात।। (मनुस्मृति 6/7)

40. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (यो0सू0 2/52)

41. धारणासु च योग्यता मनसः। (यो0सू0 2/53)

42. स्वविषयासंप्रयोगेचित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (यो0सू0 2/54)

43. इन्द्रयाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाहिन्तेऽस्मिन्निति। (भोजवृत्ति, यो0सू0 2/54)

44. शाण्डिल्योपनिषद्। 1/8, दर्शनोपनिषद्। 7/1-9.

45. इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। (गीता 2/60)

46. वशेहि यस्योन्द्रियाणी तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। (गीता 2/61)

47. इन्द्रियाणिप्रसवन्तानि यथास्वं विषयेष्विह।
आहृत्य यन्निग्रहणाति प्रत्याहारः स उच्यते।। (विष्णु पुराण)

48. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। (यो0सू0 2/55)

49. तथेन्द्रियाणां दहयन्ते दोर्षाः प्राणस्य निग्रहात्। (मनुस्मृति 6/7)

50. देशबन्धविश्चतस्य धारणा। (यो0सू0 3/1)

51. नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु।
(व्यासभाष्य, योग0सू0 3/1)

52. तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम। (यो0सू0 3/2)

53. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपपशून्यामिव समाधि। (यो0सू0 3/3)

54. ता एव सबीज: समाधि। (यो0सू0 2/46)

55. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि। (यो0सू0 2/51)

*****

चतुर्थ अध्याय

स्वस्थ्यवृत्त का स्वरूप, दिनचर्या, रात्रिचर्या, धारणीय-अधारणीय वेग, सद्वृत्त, रसायन, वाजीकरण, पंचकर्म तथा आयुर्वेदोपदिष्ट योग का वर्णन एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों से इनकी समालोचना

स्वस्थवृत्त का स्वरूप, दिनचर्या, रात्रिचर्या, धारणीय-अधारणीय वेग, सद्वृत्त, रसायन, वाजीकरण, पंचकर्म तथा आयुर्वेदोपदिष्ट योग का वर्णन एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों से इनकी समालोचना

स्वास्थ्य एक महत्वपूर्ण तथ्य है । हमारे पूर्वजों ने स्वास्थ्य की संकल्पना को बहुत विस्तृत आधार पर अधिष्ठित किया है और उसमें शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक तीनों पक्षों का समदृष्टि से समावेश किया है। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि मानव जीवन शरीर, मन तथा आत्मा का केवल योग मात्र नहीं अपितु एक सम सम्यक्, सन्तुलित योग है।[1] अर्थात शरीर, मन और आत्मा का महत्व समान है।

स्वस्थवृत्त के स्वरूप का यथेष्ट जानने के लिए 'स्वस्थवृत्त' शब्द के अर्थ को जानना नितान्त आवश्यक है। यह तीन सार्थक शब्दों से निर्मित शब्द है- 'स्व', 'स्थ' एवं 'वृत्त'।

स्व : का अर्थ है अपना (आत्मापरम सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त) अन्तर्जात, प्राकृतिक, अन्तर्हित, विशेष आदि।

स्थ : से तात्पर्य है- खड़ा होने वाला, ठहरने वाला, डटा रहने वाला, विद्यमान, तटस्थ, प्रकृतिस्थ आदि।

वृत्त : जीवित, विद्यमान, अनुष्ठित, कृत, दृढ़, गोल व वर्तुलाकार, जीवन वृत्ति, आचरण, व्यवहार, रीति, कर्म, नियम, कर्तव्य आदि।

इन तीनों को एकाकार रूप में लाने पर उसका अर्थ- अपने प्राकृतिक रूप में तटस्थ (विद्यमान व्यक्ति) की जीवनवृत्ति, आचरण या व्यवहार। यह व्यवहार भी मात्र अल्पकालिक न होकर वर्तुलाकार में नियमित रहने वाला होना चाहिए। विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) के अनुसार शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्णतया कुशल होना ही स्वास्थ्य है, केवल रोग या विकृति से मुक्त रहना स्वास्थ्य नहीं है।

स्वास्थ्य की एक अन्य परिभाषा के अनुसार 'स्वास्थ्य' व्यक्ति की वह शारीरिक और मानसिक स्थिति है जिसमें वह आन्तरिक रूप में शारीरिक अंगों से तथा बाह्यरूप में अपने पर्यावरण से क्रियात्मक दृष्टि से सुसमायोजित हो। बुद्धिमान, आरोग्य की कामना करने वाले एवं आरोग्य चाहने वाले स्वस्थ पुरुष द्वारा प्रतिदिन सोकर उठने के बाद जो कर्म किये जाते है वे सभी कर्म स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत आते है।

आरोग्य एवं रोग का फल :

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम या प्रधान कारण आरोग्य है किन्तु रोग उस आरोग्य और सुखपूर्वक जीवन दोनों का हरण करने वाला होता है।[2]

पृथ्वी पर कोई भी प्राणी अमर होकर उत्पन्न नहीं होता, अतः मृत्यु से त्राण नही मिल सकता परन्तु रोग दूर किये जा सकते है[3] इसी उद्देश्य से आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थवृत्त विज्ञान- का वर्णन किया गया है। चरक संहिता में कहा गया है कि संसार में सब कुछ छोड़कर स्वशरीर का पालन करना चाहिए क्योंकि शरीर ही सर्व सुख दुःख के भोग का माध्यम है। जिस प्रकार नगर का स्वामी नगर तथा

सारथी रथ के प्रति सदैव सचेत है, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को भी अपने शरीर की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए।[4] आधुनिक मत से जो व्यक्ति शरीर में भार व लम्बाई की दृष्टि से उचित हो तथा मांसपेशियाँ सुडौल तथा समान हों वह स्वस्थ कहलाता है।[5]

मन, आत्मा और शरीर ये तीनों त्रिदण्ड के समान हैं। इनके संयोग से यह लोक अर्थात् जीवात्मा युक्त शरीर रहता है और इसी शरीर में सब कुछ प्रतिष्ठित है।[6]

आत्मा रोग का आश्रय नहीं, परम् (श्रेष्ठ या सूक्ष्म) आत्मा निर्विकार (सुख दुःख से रहित) है। वही आत्मा सत्त्व (मन), भूत (पंच महाभूत), गुण (भूतों के गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा सत्त्व, रज, तम) और दस इन्दियों से युक्त होता है तब चैतन्य (ज्ञान प्राप्त करने) में कारण होता है। वह आत्मा नित्य है, सभी चराचर का द्रष्टा है और क्रियाओं को देखता है।[7]

जिस व्यक्ति के दोष (वात, पित्त, कफ) सम हों, अग्नियाँ (7 धात्वाग्नि, 5 भूताग्नि तथा 1 जठराग्नि) समान मात्रा में हो अर्थात् भोजन पचाने वाली अग्नि उचित समय पर भोजन का पाचन करती है तथा धातुएँ (रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि मज्जा तथा शुक्र) समान रूप से हों, मलों (मूत्र, पुरीष, स्वेद आदि) की क्रिया सम्यक् हो अर्थात् ठीक प्रकार से उत्पन्न रह रहे हों तथा उचित रूप में शरीर से बाहर निकल रहे हों तथा जिस व्यक्ति का मन, आत्मा और इन्द्रियाँ प्रसन्न हों, उनमें किसी प्रकार का काम, क्रोध आदि का विकार न हो उसे स्वस्थ या आरोग्य कहते. है।[8] इसलिए आत्मवान् तथा बुद्धिमान मनुष्य को सर्वदा ऐसे आहार, विहार एवं औषधियों का सेवन करना चाहिए जिससे स्वास्थ्य बना रहे।[9]

आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त विषयक सामग्री का निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है-

दिनचर्या

शास्त्रमतेन पूर्व रात्रि में ग्रहण किये गये आहार के जीर्णा-जीर्ण का विचार करते हुए ब्रह्ममुहूर्त में उठना चाहिए। उठने पर सर्वप्रथम दर्पण में स्वमुख का दर्शन करके वेग आने पर मलत्याग करना चाहिये। मलत्याग सम्बन्धी नियमों का आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त में निर्देश दिया गया है कि दिन में उत्तराभिमुख तथा रात्रि में दक्षिणाभिमुख होकर, बोलना बन्द करके यत्न पूर्वक अंगों को संकुचित करके मल-मूत्र का स्वाभाविक उत्सर्ग करना चाहिए। वेग को प्राप्त मल-मूत्र का ही त्याग करना चाहिए। बिना वेग के अनावश्यक यत्न द्वारा मल-मूत्रोत्सर्ग नहीं करना चाहिए।[10]

बहुत गन्दे स्थान, मार्ग, मिट्टी के ढ़ेर, राख, गायों के बैठने की जगह, गोबर, ग्राम के समीप, अग्नि, रमणीय स्थान, जोता हुआ खेत अथवा उत्तम छायादार वृक्ष, चैत्य वृक्ष एवं चिता के समीप मल त्याग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री, पूज्यनीय, गाय, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अन्न, अग्नि और जल के सामने मल त्याग नहीं करना चाहिए। मल त्याग के पश्चात् तुरन्त मल को मिट्टी से ढ़क देना चाहिए तथा मलोत्सर्ग के उपरान्त मलद्वार को निःशल्य तथा अदुष्ट मृत्पिण्डिका से पोंछ कर सावधानीपूर्वक जल द्वारा धो लेना चाहिए।

गुदा आदि मलमार्गो की पवित्रता कान्ति-बल बढ़ाने वाली, पवित्र करने वाली, आयु को बढाने वाली, दरिद्रता-मलिनता एवं पाप का नाश करने वाली है। हाथ-पैर

का धोना शुद्धि का कारण, मल और थकावट का नाश करने वाला, वृष्य (वीर्यवर्धक) नेत्रों के लिए हितकारी तथा राक्षसों (क्रिमियों) का नाश करने वाला है।[11]

आचमन :

रक्तादि धातुओं, मल, आँसू, चर्बी, कटे हुए बाल और नख को छूकर, स्नान करके, भोजन के प्रारम्भ में, भोजन और सोने के बाद उठकर, छींक के बाद, देव-पूजन में और रास्ता चलने के बाद उत्तर मुख या पूर्व मुँह होकर, एकान्त में स्थित होकर आचमन करना चाहिए। उस समय घुटना बाहर न फैलाते हुए, दूसरी ओर न देखते हुए, बकवाद न करते हुए, चादर या गमछा कन्धे पर रखकर अंगुष्ठ के पास हथेली में रखे हुए, न उठाकर, न झुककर, न ऊपर मुँह करके, न अग्नि पर पके हुए, न फेन बुलबुला क्षार युक्त, न केवल एक हाथ से छोड़े हुए जल से (एक हाथ से दूसरे हाथ पर जल लेकर) आचमन करना चाहिए। उस समय केवल एक हाथ गीला न हो (दोनों हाथ गीला हो) हाथ-पैर अपवित्र न हो तथा शब्द न होना चाहिए।[12]

दन्तधावन :

इसके लिए 12 अंगुल लम्बी, कनिष्ठिका अंगुली के बराबर मोटी, सीधी, ग्रन्थि तथा काण्ड व्रण से रहित, सुभूमि में उत्पन्न तथा हरी लकड़ी की दातौन से दन्तधावन करना चाहिए। दन्तमांसों को बिना बाधा पहुँचाये प्रातः सायं दिन में दो बार दन्तधावन करना चाहिए।[13]

सर्वदा ऋतु, दोष, रस और वीर्य को देखकर कसैली, मीठी, तीती अथवा कड़वी यथोचित दातौन का प्रयोग करना चाहिए। तीती में नीम, कसैली में बबूल, मधुर में महुआ और कड़वी में करंज की दातौन श्रेष्ठ है।[14]

जीभ के मैल को दूर करने के लिए चाँदी, सोना या लकड़ी से निर्मित मुलायम चिकनी और दस अंगुल लम्बी जिह्वा निर्लेखिका का प्रयोग करना चाहिए।[15]

जीभ के जड़ में जमा मैल उछ्वास को रोकने वाला होता है। उससे दुर्गन्ध होती है, इसलिए जीभ को छीलना चाहिए[16] तथा ठण्डे जल से बारम्बार कुल्ला करना चाहिए। यह कफ, कास और मल का नाश करने वाला एवं मुँह को भीतर से शुद्ध करने वाला है।[17]

मुख-नेत्र प्रक्षालन के उपरान्त आँखों में अंजन लगाना चाहिए। नेत्र प्रक्षालन तथा अंजन प्रयोग से मनुष्य बिना कष्ट के सुखपूर्वक सूक्ष्म वस्तुओं को भी दृढ़तापूर्वक देखता है।[18]

नस्य :

वस्तिकर्म के समान प्रतिमर्श नस्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त हितकारी है। नस्यकर्म के लिए तैल का प्रयोग ही लाभकारी है। शिर के कफ का स्थान होने के कारण स्वस्थ मनुष्य के लिए घृतादि अन्य स्नेह हितकारी नहीं।[19]

धूम्रपान :

विधिपूर्वक धूम्रपान भी स्वास्थ्य के लिए हितकर होने से स्वस्थवृत्त में उल्लिखित है। चरक संहिता, में स्वस्थवृत्त के अन्तर्गत धूम्रपान का उल्लेख है तथा हरेणुकादि गन्ध द्रव्यों से निर्मित धूमवर्ति को जलाकर उसके धूम्रपान की विधि का

वर्णन किया गया है।[20] चरकोक्त 'प्रयोगिकी' अर्थात् नित्य प्रयोग की जाने योग्य सुखावह धूमवर्ति निर्माण हेतु हरेणुका, प्रियंगु, बड़ी इलायची, नागकेशर, नखी, सुगन्धवाला, चन्दन, तेजपत्र, त्वक्, छोटी इलायची, उशीर, पद्मक, मधुक, जटामांसी, गुग्गुलु, अगुरू, शर्करा, न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ एवं लोध्र की छाल, सर्जरस, शैलेय, कमल, उत्पल, श्रीवेष्टक, शल्लकी आदि को पीस कर कल्क तैयार करके सरपत की सींक को खींचकर निकाल लेते हैं और फिर नलिकाकार धूमवर्ति प्राप्त हो जाती है। इस वर्ति को स्नेह लिप्त करके धूमनेत्र पर रखकर जलाकर धूम्रपान करते हैं। चरक संहिता में धूम्रपान के उपयुक्त आठ काल निर्दिष्ट हैं[21] क्योंकि इन्हीं कालों में स्वभावतः वायु एवं कफ का प्रकोप होता है। शास्त्रानुसारेण स्नान के बाद, भोजन के बाद, वमन के बाद, छींकने के बाद, दन्तमंजन के बाद, नस्य के बाद, अंजन के बाद एवं निद्रा सेवन के उपरान्त प्रतिदिन केवल दो समय, प्रतिवार में तीन-तीन दम के साथ धूम्रपान का उपदेश किया गया है।[22]

धूम्रपान के लिए अनर्ह अवस्थाओं के अन्तर्गत (1) विरेचन के बाद, (2) वस्ति के बाद, (3) रक्त दोष- निर्हरणोपरान्त (4) विषार्त, (5) चिन्ताधिक्य, (6) गर्भिणी, (7) श्रमार्त, (8) मद, (9) आमावस्था, (10) पित्तविकार, (11) जागरण, (12) मूर्च्छा- भ्रम-तृष्णा, (13) क्षीण, क्षत, (14) मद्य-दुग्ध-स्नेह-मधु तथा दधि सेवन के उपरान्त (15) रूक्ष एवं कुद्ध व्यक्ति (16) तालुशोष, तिमिर, शिरोभिघात, शंखक, रोहिणी रोग से पीड़ित व्यक्ति, (17) प्रमेह तथा (18) मदात्यय[23] उल्लेख किया गया है।

व्यायाम :

शरीर की वह चेष्टा जो मन के अनुकूल शरीर में स्थिरता लाने वाली और बल बढ़ाने वाली हो उसे शारीरिक व्यायाम कहते हैं। इसका उचित मात्रा में ही सेवन करना चाहिए।[24]

स्वेद को निकलना, श्वास की वृद्धि, शरीर के प्रत्येक अंग में लघुता, हृदयादि प्रदेश में बाधा अथवा हृदयगति का तीव्र होना ये व्यायाम के लक्षण हैं।[25]

व्यायाम करने से देह में हल्कापन, कार्य करने की शक्ति, शरीर में स्थिरता, दुःख सहने की शक्ति, बढ़े हुए दोषों की क्षीणता और अग्नि की वृद्धि, शरीर की पुष्टि, कान्ति, मांस-पेशियों के उभार का ठीक विभाग, आलस्यहीनता, थकावट-सुस्ती-प्यास-गर्मी एवं सर्दी आदि सहने की शक्ति और श्रेष्ठ आरोग्य प्राप्त होता है।[26] मोटापा कम करने का यह सर्वोत्तम उपाय है। व्यायाम करने वाले पुरुष पर व्याधियों का प्रभाव अतिशीघ्र नहीं हो पाता है।

अति व्यायाम से श्रम, क्लम, क्षय, तृष्णा, रक्तपित्त, प्रतमक श्वास, कास, ज्वर, छर्दि आदि उपद्रव होते हैं। अतः व्यायाम उचित मात्रा में ही करना चाहिए।[27] चरक के अनुसार प्रहंसन, भाषण, अध्व, मैथुन, रात्रि-जागरण के बाद बुद्धिमान व्यक्ति को अधिक मात्रा में व्यायाम नहीं करना चाहिए।[28] आचार्य सुश्रुत का भी यही विचार है। चरक संहिता में अहितकर आहार-विहार के त्याग तथा हितकर आहार-विहार के सेवन के लिए 'पादांशिक क्रम' का उपदेश किया गया है।[29]

आचार्य सुश्रुत ने रक्त पित्त, शोष, कृश, श्वास-कास, उरःक्षत से पीड़ित तथा भोजन के तुरन्त बाद, स्त्री प्रसंग से क्षीण व्यक्ति, भ्रमार्त को व्यायाम के

अयोग्य कहा है।[30] वय, बल, शरीर, देशकाल एवं आहार का विचार करके ही व्यायाम करना चाहिए।[31]

अभ्यंग :

अन्न-पान ग्रहण करने की इच्छा करने वाला पुरुष ऋतु के अनुसार स्पर्श सुख देने वाले शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीत, वायुनाशक सुगन्धित तेलों से प्रतिदिन मालिश करनी चाहिए।[32] अभ्यंग द्वारा बुढ़ापा, थकावट एवं वायु विकार का शमन, दृष्टि की स्वच्छता, पुष्टि, आयु, नींद, सुन्दर-त्वचा और शरीर में दृढ़ता उत्पन्न होती है। सिर, कान तथा पैरों में विशेष कर मालिश करनी चाहिए।[33] चरक संहिता सूत्रस्थान के मात्राशितीय अध्याय में ठीक ही कहा गया है कि जिस प्रकार तैलादि स्नेहाभ्यंग से घड़ा अथवा स्नेहमर्दन से चर्म अथवा उपांग में तैल डालने से पहिए की धूरी दृढ़ तथा क्लेश को सहने वाली हो जाती है उसी प्रकार अभ्यंग से मनुष्य का शरीर सुदृढ़ तथा कोमल त्वचा वाला हो जाता है। वातज रोग नहीं होते और शरीर क्लेश तथा व्यायाम (श्रम) सहने वाला हो जाता है।[34]

स्नान :

स्नान दाह, थकावट, पसीना, खुजली और प्यास का नाश करने वाला, हृदय को प्रसन्न करने वाला, मैल नाशक तथा श्रेष्ठ इन्द्रिय-शोधक है। वह पाप का नाश करने वाला, सन्तोषदायक, पौरुषवर्द्धक रक्त को स्वच्छ करने वाला एवं अग्नि को दीप्त करने वाला कहा जाता है।[35] प्रातः काल का स्नान पापनाशक, बुरे स्वप्नों को नष्ट करने वाला, पवित्रता का कारण, मलनाशक, तेजवर्द्धक, रूप को निखारने वाला, शारीरिक सुखं को देने वाला, कामाग्निदीपक तथा थकावट दूर करने वाला, दशगुण

युक्त है।[36] ठण्डे जल से किया गया स्नान रक्त को शान्त करता है तथा शिर पर बिना पड़े गर्म जल से स्नान करना बलकारक एवं वात कफ का नाश कहा गया है। अतिसार, ज्वर, कर्णशूल, वायु रोग, अफरा, अरुचि और अजीर्ण में तथा भोजन के बाद स्नान करना निन्दित है।[37] नदियों, देवकुण्डों, बड़े तालाबों, झीलों, पोखरों, कुंओं या झरनों में नित्य स्नान करना चाहिए।

अनुलेपनादि :

चन्दनादि का लेप सौभाग्यकर, वर्णकर, प्रीति एवं ओजवर्द्धक एवं स्वेद, दौर्गन्ध्य विवर्णता एवं श्रम नाशक है। जिन व्यक्तियों को स्नान निषिद्ध है उनमें अनुलेपन भी निषिद्ध है।[38] इसी प्रकार सुगन्धित इत्र तथा मालाधारण वृष्य, आयुष्य, बलपुष्टिकर तथा अलक्ष्मीघ्न है। अधिक लम्बी, पुरानी तथा लाल रंग की फूलमाला निषिद्ध है। रत्न तथा अलंकार धारण भी शुभ है। फूल, वस्त्र और रत्नों का धारण करना रक्षोघ्न, ओजवर्धक, सौभाग्यकर तथा प्रीतिवर्धक है।[39]

वस्त्रधारण :

निर्मल वस्त्र धारण करना यश एवं आयुवर्धक, अलक्ष्मीघ्न, हर्षकारक तथा बड़े लोगों के बीच बैठने की योग्यता प्रदान करता है।[40] कभी भी मलिन वस्त्र धारण नही करना चाहिए क्योंकि मलिन वस्त्र कण्डू, कृमि, ग्लानि तथा अलक्ष्मीकारक भावों में प्रधान है।[41] दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, पुष्प तथा अलंकार, गले और हाथ की माला नहीं पहननी चाहिए।

सन्ध्योपासन एवं योगाभ्यास :

प्रतिदिन प्राणायाम, सूर्योपासन एवं गायत्रीजप **इष्टदेव** की अर्चना करनी चाहिए। प्रात:काल की संध्या तथा अन्य संध्याओं को यथोचित समय से करते हुए सूर्य के

सामने देर तक रूकना चाहिए। सद्वृत का पालन करना चाहिए। दीर्घ काल तक संध्या करने के कारण ही ऋषियों ने दीर्घायु बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त किया था। उत्तम मनोदैहिक स्वास्थ्य के लिए नित्य सन्ध्योपासन एवं योगाभ्यास करना हितकर है। अष्टांग योग विधि सहित योगाभ्यास करना चाहिए।

त्रय उपस्तम्भ :

आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य- ये तीन उपस्तम्भ कहे गये हैं। इनका युक्ति पूर्वक सेवन दिनचर्या का महत्वपूर्ण अंग है। इनके समुचित सेवन से शरीर स्थैर्य को प्राप्त होकर सार्थक होता है, इसीलिए इन्हें उपस्तम्भ कहा गया है।[42]

आहार :

जो जीवन निर्वाह के लिए खाया-पिया जाता है उसका नाम आहार है।
'आहरो नाम यदन्नमार्गात् शरीरस्यान्तराह्रियते' अर्थात् अन्न मार्ग के द्वारा जो
~~'आहरो नाम यदन्नमार्गात् शरीरस्यान्तराह्रियते' अर्थात् अन्न मार्ग के द्वारा जो~~
कुछ शरीर के भीतर ले जाया जाता है उसे आहार कहते है। आहार पुष्ट करने वाला तुरन्त बलकारक, देह को धारण करने वाला एवं आयु, तेज, उत्साह, स्मरण शक्ति, ओज और अग्नि को बढ़ाने वाला है।[43]

मनुष्यों के लिए भोजन के दो ही काल बतलाये गये हैं। सायं (रात्रि का प्रथम याम) एवं प्रातः (पूर्वाह्न) के बीच में भोजन नहीं करना चाहिए।

मलमूत्र का त्याग कर लेने, इन्द्रियों के स्वच्छ होने और देह के अत्यन्त हल्का होने, डकार के शुद्ध होने, हृदय के निर्मल होने तथा वायु के अनुलोम होने, अन्न खाने की इच्छा होने, भूख लगने तथा पेट के ढीला होने पर आहार लेना चाहिए। वही आहार का समय वैद्यों द्वारा कहा गया है।

रात्रिचर्या

सन्ध्याकालोचित आचरण से लेकर रात्रिकाल में किये जाने वाले सभी कार्य यथा रात्रि भोजन, शयन, निद्रा, स्वप्न, व्यवाय, तथा ब्रह्मचर्यादि पालन ये सभी स्वस्थवृत्त सम्बन्धी रात्रियर्चा के अंग है।

सन्ध्याकालीन चर्या :

सायंकाल में भोजन, मैथुन, निद्रा, पठन तथा मार्ग गमन इन पांच बातों को वर्ज्य कहा गया है। इस निषिद्धकाल में भोजन करने से अन्नज रोग, मैथुन करने से गर्भ-विकृति, निद्रा सेवन से दारिद्रय, पठन से आयु हानि तथा मार्ग गमन से त्रास होता है[44], अत: ये कर्म त्याज्य हैं।

रात्रिकालीन भोजन :

रात्रि का भोजन रात्रि के प्रथम प्रहर में कर लेना चाहिए। रात्रि का भोजन मात्रा में कम तथा सुपाच्य होना चाहिए।[45]

शयन :

भोजन के बाद प्रसन्न मन, स्वच्छ होकर पवित्र तथा विस्तृत स्थान में दो-तीन परिचारकों के साथ तकिया से युक्त अच्छी तरह बिछे हुए, अविषम, सुखदायी, जानु के बराबर ऊँचे, कोमल शुभ शयनासन पर पूर्व या दक्षिण ओर सिर करके गुरुओं की ओर तथा पूर्व दक्षिण की ओर बिना पैर किये धर्म-चिन्तन करते हुए शयन करना चाहिए।[46]

ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य तीन उपस्तम्भों में वर्णित तीसरा महत्वपूर्ण भाव है। उपस्तम्भों के प्रसंग में इसका उल्लेख किया गया है- स्मरण, कीतर्न, केलि, पेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय तथा मैथुन क्रिया- ये आठ मैथुन अंग माने गये हैं। इनके विपरीत आचरण ही ब्रह्मचर्य है जो आयु, आरोग्य और सौख्य का देने वाला है। पातंजल अष्टांगयोग के प्रथम अंग 'यम' में ब्रह्मचर्य का वर्णन है। ब्रह्मचर्यता साधक के मन व शरीर की शुद्धि के साथ-साथ उसे मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से सबल रखता है ताकि साधना के पथ पर वह कुशलता से अग्रसर हो सके।

व्यवाय :

समस्त देह धारियो में सर्वदा मैथुन की इच्छा उत्पन्न होती है। रात्रि में यथाविधि स्वपत्नी के साथ मैथुन करना चाहिए।[47] मैथुन न करने से प्रमेह, मेदोवृद्धि तथा शरीर में शैथिल्य उत्पन्न होता है।

गर्भाधान काल :

महर्षि सुश्रुत ने पच्चीस वर्ष के पुरुष तथा षोड्श वर्षीया स्त्री को समान रूप से प्राप्त वीर्य वाला माना है। आचार्य वागभट्ट ने गर्भाधानार्थ पुरुष बीस वर्ष का तथा स्त्री सोलह की हो ऐसा कहा है। भाव प्रकाश में सोलह वर्ष तक की आयु वाली स्त्री को बाला, उसके बाद बत्तीस वर्ष तक तरूणी तथा पचास वर्ष तक प्रौढ़ा, तदन्तर मैथुन कर्म हेतु वर्जित वृद्धा माना गया है। ग्रीष्म और शरद् ऋतु में बाला, शीतकाल में तरूणी तथा वर्षा एवं बसन्त में प्रौढ़ा स्त्री मैथुन में हितकर मानी गयी है।[48] भावप्रकाश के अनुसार मनुष्य को ऋतुकाल में अवश्य मैथुन करना

चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने से स्त्री के दुःख पूर्ण निःश्वास के प्रभाव से पुरुष दुर्भाग्य को प्राप्त होता है।[49]

मैथुन किया समाप्त करने के उपरान्त स्नान, अनुलेपन, शीतलवायु, खण्ड खाद्य, शीताम्बु, दुग्ध, मांसरस, यूष, सुरा, प्रसन्ना का सेवन करके शयन करना चाहिए ऐसा करने से शरीर पुनः तेज और बल को प्राप्त कर लेता है।[50]

रजस्वला चर्या :

बारह वर्ष से पचास वर्ष तक की आयु में स्त्रियों का रसजन्य रज प्रत्येक मास तीन दिन निकलता है। पचास वर्ष की आयु के बाद वह बन्द हो जाता है।[51] आर्तवस्राव प्रारम्भ होने के दिन से सोलह रात्रि तक ऋतुकाल कहा जाता है, यही गर्भ ग्रहण का योग्य काल है।[52] ऋतुकाल के प्रथम तीन दिनों में मैथुन कार्य गर्भ के लिए त्याज्य है।

गर्भाधान विधि :

एक महीने से ब्रह्मचर्य पालन करने वाला पुरुष घृत् से स्निग्ध होकर घी और दूध से शालि चावल का सेवन कर एक मास पहले से ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली स्त्री को तैल से स्निग्ध कराके, तैल और उड़दप्रधान आहार खिलाकर स्त्री के साथ रात्रि में साम-दाम इत्यादि मीठी-मीठी बातों से आश्वासन द्वारा विश्वास उत्पन्न करके पुत्र की इच्छा करने वाले पुरुष को रजः प्रारम्भ से चौथी, छठी, आठवीं, दशवीं और बारहवीं रात्रि में सम्भोग करना चाहिए। पुत्री की अभिलाषा हेतु पंचमी, सप्तमी, नवमी और एकादशवीं तिथि में मैथुन करें। त्रयोदशी से लेकर शेष रात्रियाँ निषिद्ध होती है।

धारणीय-अधारणीय वेग

अधारणीय वेग :

हितकर आहार सेवन किये जाने के बाद सम्यक् रूप में परिणत होकर, अपने सार अंश से रस-रक्तादि धातुओं का पोषण करते हुए अवशिष्ट अंश मल-मूत्रादि किट्ट रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है और इस प्रकार स्वास्थ्य परम्परा बनी रहती है। यदि मल-मूत्र आदि के वेगों को रोक लिया जाय तो हितकर आहार-विहार सेवन करने पर भी स्वास्थ्य उत्तम नहीं रह सकता।

बुद्धिमान व्यक्तियों को आते हुए मूत्र, पुरीष, रेतस् (शुक्र), वात (अपान वायु), वमन, क्षवथु (छींक), उद्गार (डकार), जृम्भा (जंभाई), क्षुत् (भूख), पिपासा (प्यास), वाष्प (आँसू), निद्रा तथा परिश्रम से उत्पन्न हुए श्वास के वेगों को नहीं रोकना चाहिए।[53, 54]

1. मूत्रवेग रोकने से होने वाले रोग :

प्रवृत्त हुए मूत्र का वेग रोकने से वस्ति और लिंग में शूल, मूत्रकृच्छ, शिरोवेदना, विनाम् (वेदना काल में शरीर का झुकना) और वंक्षण प्रदेश में आनाह आदि लक्षण प्रकट हो जाते है।[55]

2. पुरीष वेगावरोधजन्य रोग :

पुरीष का वेग रोकने से पक्वाशय शूल, शिरः शूल, अपानवायु एवं मल का रुक जाना, जंघा की पिंडलियों में ऐंठन और उदर में आध्मान होने लगता है।[56]

3. शुक्रवेगावरोधजन्य रोग :

शुक्र का वेग रोकने पर मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय-शिश्न) तथा वृषण में शूल, हृदय में पीड़ा, मूत्र का रूक-रूक कर आना आदि उपद्रव होने लगते हैं।[57]

4. अपान वायु का वेग रोकने से होने वाले रोग :

अपानवायु का वेग रोकने से वात, मूत्र और पुरीषावरोध, उदर में आध्मान, क्लम (बिना श्रम के थकावट), उदर में पीड़ा और वात सम्बन्धी अन्य रोग हो जाते हैं।[58]

5. वमन का वेग रोकने से होने वाले रोग :

निकलते हुए वमन का वेग रोकने से कण्डू, कोठ, भोजन में अरूचि, व्यंग, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, हृल्लास और विसर्प रोग हो जाते हैं।[59]

6. क्षवथु (छींक) का वेग रोकने से होने वाले रोग :

छींक के वेग को रोकने से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, आर्दित, अर्द्धावभेदक और ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता हो जाती है।[60]

7. उद्गार (डकार) वेग के धारण करने से होने वाले रोग :

उद्गार का वेग रोकने से हिचकी, श्वास, भोजन में अरूचि, कम्प, हृदय और छाती में जकड़ाहट होती है।[61]

8. जृंभा वेग धारण से होने वाले रोग :

जम्भाई का वेग रोकने से शरीर का झुकना, आक्षेप, संकोच (अंगों में सिकुड़न), सुप्ति (शून्यता), कंप अर्थात् शरीर एवं हाथ पैरों में कम्पन होने लगता है।[62]

9. क्षुधा वेग धारण करने से होने वाले रोग :

भूख का वेग रोकने से शरीर में कृशता, दुर्बलता, शरीर के वर्ण में परिवर्तन, अंगमर्द, अरुचि, भ्रम (चक्कर आना) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।[63]

10. पिपासा वेग धारण करने से होने वाले रोग :

प्यास का वेग रोकने से कण्ठ और मुख का सूखना, बाधिर्य, थकावट, अवसाद और हृदय में पीड़ा होती है।[64]

11. अश्रु वेग धारण करने से होने वाले रोग :

आँसू का वेग रोकने से प्रतिश्याय, अक्षिरोग, हृदय के रोग, अरुचि और शिर में चक्कर आने लगते है।[65]

12. निद्रा वेग धारण करने से होने वाले रोग :

निद्रा का वेग रोकने से जंभाई, अंगों का टूटना, तन्द्रा, शिरोरोग, नेत्र में भारीपन होता है।[66]

13. श्रमजन्य निःश्वास वेग धारण करने से होने वाले रोग :

परिश्रम करने से उत्पन्न श्वास के वेग को रोकने से गुल्म, हृदय रोग और मूर्च्छा रोग हो जाते हैं।[67]

धारणीय-वेग वर्णन

जीवित अवस्था और मृत्यु के पश्चात् जन्मान्तर में भी अपना हित चाहने वाले व्यक्तियों को मन, वचन एवं शरीर से निन्दित कर्मों के वेगों को रोकना चाहिए।[68]

1. मानसिक धारणीय वेग :

बुद्धिमान, पुरुष को लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग और दूसरे का धन लेने की इच्छा आदि मानस वेगों को रोकना चाहिए।

2. वाचिक धारणीय वेग :

अत्यन्त कठोर वचन, चुगलखोरी, झूंठ बोलना और अकालयुक्त वचन इनके वेगों को धारण करना चाहिए।

3. अशस्त शारीरिक धारणीय वेग :

दूसरे को पीड़ा देने वाले शरीर के कर्म, परस्त्री सम्भोग, चोरी और हिंसा के लिए उत्पन्न वेगों को रोकना चाहिए।

वेग धारण से लाभ :

वेगों के धारण करने से मनुष्यों के मन, वचन और कर्म पापरहित हो जाते है जिससे वह पुरुष पुण्य का भागी होता है तथा सुखपूर्वक धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त कर उसके फलों का उपभोग करता है।

सद्वृत्त

आयुर्वेद में शरीर, इन्द्रिय मन और आत्मा के संयोग को ही 'जीव' कहा गया है, एवं इसे ही 'आयु' की संज्ञा दी गई है। आयुर्वेद ने मन को जीव संयंत्र का आवश्यक अंग माना है। अतः मन के द्वारा शारीरिक परिवर्तन करना स्वाभाविक ही है। योग, सद्वृत्त, आचार रसायन आदि का आधार यही है।

शरीर और मन एक दूसरे को प्रभावित करते है।[69] विशेषरूप से मन, शारीरिक क्रियाओं को सदा प्रभावित करता है और यदि इसका उपयुक्त नियमन न किया जाय तो व्याधिजनक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। इसी प्रकार की अशुभ परिस्थितियों के प्रतिषेध के लिए तथा मानस दोषों के नियंत्रण के उद्देश्य से आयुर्वेद में 'सद्वृत्त' का आख्यान किया गया है। सद्वृत्त, योग साधना हेतु योगशास्त्र में कहे गये 'यम' एवं 'नियम' के समान ही है। काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, मोह, हर्ष, लोभ, शोक, चिन्ता आदि मनोविकार की उत्पत्ति रज-तम के वैषम्य से सम्बन्धित है।[70] सद्वृत्त पालन से सत्व गुण की प्रधानता बनी रहती है और रज, रज व तम में प्रवृत्त नहीं हो पाता। इस प्रकार मनोविकारपूर्वक रोगोत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः सद्वृत्त पालन समाज मूलक रोग निवारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

(क) मानसिक सद्वृत्त :

(अ) करणीय- विवेक से कार्य करना, प्रसन्न मन रहना, दूसरे के कटु वचन सहना, राग एवं द्वेष के कारणों को नष्ट करना आदि करणीय मानसिक सद्वृत्त के अन्तर्गत आता. है।

(ब) अकरणीय- चित्त चंचल न करना, इन्द्रियों का अतियोग, अयोग एवं मिथ्या योग से दूर रहना, क्रोध न करना एवं क्रोध के वशीभूत न होना, हर्ष के वशीभूत न होना, ईर्ष्या न करना, चिन्ता न करना, निन्दा या आलोचना की भी सतत् चिन्ता न करना, भय न करना, अभिमान न करना एवं सिद्धि प्राप्त होने पर भी अभिमान न करना, अधिक महत्वाकांक्षा न करना, दैन्य भाव को प्राप्त न होना, मोह एवं

लालच न करना, वैर में रूचि न रखना, अनिष्ट करने की इच्छा या स्वयं अनिष्ट न करना आदि अकरणीय मानसिक सद्वृत्त के अन्तर्गत उल्लिखित है।

(ख) चारित्रिक सद्वृत्त :

(अ) करणीय-

सत्य प्रिय एवं शान्ति प्रिय होना, विनयशील, समयानुसार हितभाषी, कुशल होना, क्षमा, धैर्य, लज्जा आदि गुणों से युक्त व्यवहार करणीय चारित्रिक सद्वृत्त के अन्तर्गत कहा गया है।

(ब) अकरणीय-

इन्द्रिय लोलुप न होना, पद, धन की इच्छा न करना, नियमों का उल्लंघन न करना, रहस्य न खोलना, अशिष्ट लोगों का आश्रय न लेना, द्यूत तथा वेश्या प्रसंग में रूचि न रखना, परस्त्री से सम्बन्ध न रखना आदि न करने योग्य कार्य इसके अन्तर्गत आते हैं।

(ग) सामाजिक सद्वृत्त :

अतिथियों का सम्मान, आचार्यो एवं सिद्ध पुरुषों एवं वृद्ध, कुल तथा वय में श्रेष्ठ जनों का सम्मान करना, सभी प्राणियों से आत्मीयता, भयभीत जनों को आश्वस्त करना, दुर्गति में न पड़ना, लोगों की रक्षा आदि कार्य करणीय सामाजिक सद्वृत्त के उदाहरण हैं।

दूसरे पक्ष में अव्यावहारिक न होना तथा दुःखद व्यवहार न करना, लोगों से कलह न करना, श्रेष्ठ लोगों से विरोध न करना, स्त्री-मित्र एवं भृत्यों के साथ

अधिक न रहना, अधार्मिक एवं राजा के शत्रु के साथ न रहना, पूज्य लोगों तथा मंगलमय पदार्थो को बायें तथा विपरीत पदार्थो को दक्षिण न करना आदि कर्म न करने योग्य सामाजिक सद्वृत्त के अन्तर्गत आते हैं।

(घ) धार्मिक सद्वृत्त :

आस्तिक होना, देव-गौ-ब्राह्मण-गुरू-सिद्ध-वृद्ध एवं आचार्यो आदि का पूजन, हवन एवं यज्ञ करना, अग्नि में जूठा न डालना, दान, मंत्रोच्चारण आदि कार्य धार्मिक सद्वृत्त के उदाहरण स्वरूप कहे गये हैं।

इसके अतिरिक्त पाप कर्म न करना, शव का अनादर न करना, धार्मिक वृक्ष, ध्वज, गुरू, पूज्य एवं अकल्याण कारक वस्तुओं की छाया न लॉघना आदि अकरणीय धार्मिक सद्वृत्त कहा गया है।

(ङ.) वैयक्तिक सद्वृत्त :

(अ) स्वच्छता सम्बन्धी सद्वृत्त-

ऋतु के अनुसार दोनों समय स्नान, मल त्याग के पश्चात् मलद्वार एवं पाद प्रक्षालन, पक्ष में कम से कम तीन बार क्षौर कर्म, स्वच्छ वस्त्र धारण, छत्र, दण्ड, शिरस्त्राण एवं पादत्राण धारण करें, केश प्रसाधन, नित्य तैलाभ्यंग, औषधियुक्त धूम्रपान (विशिष्टतया: भोजन, पान तथा दन्त धावन के पश्चात्), ध्यानपूर्वक देखते हुए मार्ग गमन, प्रशस्त औषधि धारण, गन्दे स्थानों पर न रहना आदि का उल्लेख भी सद्वृत्त के अन्तर्गत किया गया है।

(ब) आहार सम्बन्धी सद्वृत्त-

अष्टविध आहार विशेषायतन का पालन, यथा प्रकृति (भोज्य पदार्थो के गुरु लघु होने का विचार), करण (पकादि संस्कार का विचार), संयोग (खाद्य पदार्थो

के मिश्रण का विचार), राशि (मात्रा का विचार) देश (स्थान का विचार), काल (समय का विचार), उपयोग संस्था (उपयोग के नियम का विचार), उपभोक्ता (उपयोग करने वाले का विचार) सम्बन्धी नियमों का उल्लेख आहार सम्बन्धी सद्‌वृत्त के अन्तर्गत किया गया है इसके अतिरिक्त ताजा भोजन ग्रहण करना, दधि, मधु, सत्तू, घृत, लवण आदि पदार्थो के अतिरिक्त निःशेष भोजन न करना, भोजन करने के बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा जल पीना आदि का भी यहाँ पर वर्णन किया गया है।

(स) अध्ययन सम्बन्धी सद्‌वृत्त-

विद्युत चमकते समय, अनुचित मौसम में, दिशाओं में अग्नि जलते समय, अग्नि के उपद्रव के समय, महोत्सव के समय, उल्कापात के समय, महाग्रहों के संयोग के समय, चन्द्रमाहीन तिथियों में, सन्ध्या काल आदि के समय अध्ययन से विरत रहना, बिना शिक्षक द्वारा पढ़ाये जाने पर अध्ययन न करना, हीन अक्षरों वाले तथा अधिक लम्बे वाक्यों का अध्ययन एवं अतिशीघ्रता या धीमी गति से अध्ययन न किया जाना, अधिक जोर या अधिक धीमें स्वर से न पढ़ना आदि अध्ययन सम्बन्धी सद्‌वृत्त के अन्तर्गत कहा गया है।

(द) व्यायाम सम्बन्धी सद्‌वृत्त-

कष्टदायक वाहन पर सवारी न करना, श्रम से पूर्व व्यायाम न करना, पर्वत श्रेणी पर भ्रमण न करना, वृक्ष पर न चढ़ना, जल की वेगवती धारा न रोकना, घुटनों के बल अधिक न बैठना, अंगों को टेढ़ा न चलना, नित्य अभ्यंग न करना आदि व्यायाम सम्बन्धी सद्‌वृत्त के अन्तर्गत कहे गये है।

(ग) मैथुन सम्बन्धी सद्वृत्त-

अमैथुनार्ह स्त्रियाँ यथा रजस्वला, रूग्णा, असमान वय वाली, कुरूप, अकुशला, बिना इच्छा वाली, दूसरे पुरुष को चाहने वाली तथा विकृत योनि वाली स्त्री के साथ मैथुन न करना, अमैथुनार्ह स्थल यथा धार्मिक वृक्ष के नीचे, खुले स्थान में, चौराहे पर, श्मशान में, वधस्थल में, जल में, औषधियों के समीप, ब्राह्मणगृह, गुरूगृह, देवमन्दिर, विद्यामन्दिर एवं सार्वजनिक स्थान में मैथुन एवं अमैथुनार्ह काल - सन्ध्याकाल में, निन्दित तिथियों में, अपवित्रता से, बिना वृष्य औषधियों के सेवन के, बिना निश्चय के, बिना उत्तेजना के, अधिक भोजन के बाद, विषम स्थिति से, मल मूत्रादि वेग से पीड़ित श्रम, व्यायाम तथा उपवास से शिथिलावस्था में तथा बिना एकान्त के मैथुन निषेध आदि के विषय में भी आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त के अन्तर्गत विवेचना की गयी है।

(र) सामान्य त्याज्य वृत्तियाँ-

मद्यपान न करना, व्यर्थ समय नष्ट न करना, दीर्घ सूत्री न होना, अधिक न बोलना, अधिक शयन या अधिक जागरण न करना, रात्रि में अनुचित स्थान पर न जाना, निर्जन घर या जंगल में प्रवेश न करना, हिंसक पशुओं का पीछा न करना, अपनी शक्ति का अपव्यय न करना, नाक न सिकोड़ना तथा नख न बजाना तथा वृत्त मल-मूत्र के वेगों को धारण न करें आदि सामान्य त्याज्य वृत्तियाँ कहीं गयी है।

सद्वृत्त पालन से लाभ :

उपरोक्त सद्वृत्त पालन से मनुष्य को, आरोग्य एवं स्वस्थ जीवन, शतायु, साधु पुरुषों में पूज्यनींय स्थान, लोक में यश तथा ख्याति, प्राणिमात्र का प्रीति भाजन

तथा पुण्यात्माओं के उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति होती है। महर्षि चरक ने कहा है कि सद्वृत्त के अनुष्ठान से आरोग्य एवं इन्द्रियों पर विजय दोनों लाभ होते हैं।[71]

रसायन

रसायन आयुर्वेद के अष्टांगों में से एक महत्वपूर्ण अंग है। आयुर्वेद के दो प्रमुख उद्देश्यों स्वास्थ्य परिरक्षण एवं रोग प्रशमन में से रसायन का उद्देश्य प्रधानतः स्वास्थ्य परिरक्षण एवं स्वास्थ्य संवर्धन है। रसायन का सम्बन्ध मानस स्वास्थ्य से अधिक है। रसायन द्रव्य अनेक जीवनीय तथा मेधाकर प्रभावों के अतिरिक्त मनोशक्तिकर एवं चिन्ताहर होते हैं।

वस्तुतः रसायन का सीधा सम्बन्ध रस-संवहन एवं धातु पोषण से है। उत्तम पोषण के माध्यम से प्रशस्त धातुओं के निर्माण के उपाय को ही रसायन कहा गया है। शरीर में प्रशस्त धातुओं के निर्माण के परिणामस्वरूप मनुष्य में दीर्घायु, व्याधिक्षमित्व, मेधा, शक्ति, एवं प्रभा, वर्ण, स्वरौदार्य इत्यादि की प्राप्ति होती है।[72] रसायन केवल औषधि व्यवस्था न होकर औषधि, आहार, विहार एवं आचार का एक विशिष्ट प्रयोग है जिसका उद्देश्य शरीर में उत्तम धातु पोषण के माध्यम से दीर्घायु, व्याधिक्षमित्व एवं स्वस्थ व्यक्ति में उत्तमोत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति है। रसायन के इस प्रकार के प्रयोग को 'काम्य रसायन' कहते हैं। कुछ रसायनों का प्रयोग रूग्णावस्था में रोग विशेष के प्रशमन सहित स्वास्थ्य लाभ के निमित्त किया जाता है, जिन्हें 'नैमित्तिक रसायन' के अन्तर्गत कहा गया है।

रसायन के प्रभाव :

रसायन द्रव्य शरीर में पोषण क्रिया को अधिक प्रभावी करके प्रशस्त धातुओं का निर्माण करने में सहायक होते हैं जिनका दूरगामी प्रभाव दीर्घायुष्य, व्याधिक्षमित्व एवं उत्तम मेधाशक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है। ये रसायन रस के स्तर पर, या अग्नि के स्तर पर, या स्त्रोतस के स्तर पर या इनमें से किन्हीं दो माध्यमों के अथवा तीनों के संयुक्त प्रभाव से धातु पोषण की क्रिया पर प्रभावकारी होते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्ततः रसायन द्रव्यों को तीन विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. **रसवर्धक रसायन :** पिप्पली, भल्लातक, गुग्गुलु, रसोन, शतावरी, खर्जूर, दुग्ध, घृत आदि कई रसायन ऐसे हैं जो स्वयं में रसवर्धक होते हैं अर्थात् उनमें पोषक पदार्थ अधिक मात्रा में होते हैं, ये द्रव्य पाचन, शोषण के बाद पोषक रस-धातु में मिलकर सीधे धातु पोषण की क्रिया में सहायक होते हैं।

2. **अग्निवर्धक रसायन :** हरीतकी, चित्रक, विडंग, पिप्पली आदि अनेक रसायन द्रव्य ऐसे हैं जो अग्नि के स्तर पर काम करते हैं। ये रसायन जाठराग्नि तथा धात्वाग्नि शक्तिं की वृद्धि करके शरीर में पाचन, शोषण तथा चयापचय की प्रक्रिया को तेज करके प्रशस्त धातुओं के निर्माण में सहायक होते हैं और इस माध्यम से रसायन फल की प्राप्ति होती है।

3. **स्रोतोशोधक रसायन :** आमलकी, अमृता, कुमारी, पिप्पली, गुग्गुल जैसे कुछ ऐसे रसायन हैं जो शरीर में स्रोतोशोधन करके रस संवहन की प्रक्रिया को तीव्र करके धातु पोषण में सहायक होते हैं।

रसायन वर्गीकरण :

रसायन का प्रयोग स्वस्थ तथा आतुर दोनों में निर्दिष्ट है। स्वस्थ व्यक्ति में वय: स्थापन, प्रभा, वर्ण, मेधा, आदि की वृद्धि हेतु उपयुक्त रसायन को 'काम्य रसायन' कहते है। रोग विशेष से पीड़ित रोगी से रोग के विशिष्ट प्रशमन तथा रोगी के स्वास्थ्य में सुधार की कामना से प्रयुक्त रसायन 'नैमित्तिक रसायन' कहा जाता है। भिन्न-भिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न नैमित्तिक रसायनों का प्रयोग कर सकते है जैसे - प्रमेह में शिलाजतु रसायन, कुष्ठ में तुवरक एवं भल्लातक रसायन का प्रयोग। किन्तु नैमित्तिक रसायन रोग विशेष की पूर्ण चिकित्सा नहीं है, यह मात्र सहायक चिकित्सा है।

उद्देश्य के अनुसार रसायन वर्गीकरण निम्न प्रकार द्रष्टव्य है-

1. काम्य रसायन (वय: स्थापनार्थ)

    (क) प्राण काम्य (आयु वर्धनार्थ)

    (ख) मेधा काम्य (मेधा वर्धनार्थ)

    (ग) श्री काम्य (कान्ति वर्धनार्थ)

2. नैमित्तिक रसायन (रोगों के चिकित्सार्थ व्याधि निमित्त)

3. आजस्त्रिक रसायन (आहारांश के रूप में)

विशिष्ट रसायन

    (क) मेध्य रसायन (मेधा वृद्धि हेतु)

    (ख) आचार रसायन (श्रेष्ठ आचरण सद्वृत्त, यम, नियम आदि)

प्रयोग विधि अनुसार रसायन :

रसायन का प्रयोग पूर्व या मध्य वय में अधिक उपयोगी कहा गया है। वृद्धावस्था में रसायन सेवन करने से दीर्घायु एवं वयःस्थापन सम्भव नहीं है क्योंकि जरावस्था को प्राप्त हुए धातुओं में प्रशस्त गुण नहीं लाया जा सकता है।[73] रसायन सेवन से पूर्व संशोधन कर्म की महत्ता स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे गन्दे वस्त्र को रंगने पर रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार पंच कर्मादि क्रिया द्वारा बिना संशुद्ध हुए मनुष्य शरीर पर रसायन का प्रभाव नहीं होता। रसायन सेवन की दो विधियाँ है[74]-

1. वातातपिक, 2. कुटी प्रावेशिक

1. वातातपिक विधि :

जब रसायन सेवी व्यक्ति वायु एवं आतप में रहते हुए अर्थात् सामान्य जीवन व्यतीत करते हुए रसायन सेवन करता है तब इस विधि को 'वातातपिक विधि' कहते हैं। यह बहिरंग रसायन सेवन विधि है। इसमें संशोधन अनिवार्य नहीं है। यह अल्प व्यय साध्य विधि है परन्तु इसमें रसायन के पूरे फल प्राप्त नहीं होते।

2. कुटी प्रावेशिक विधि :

इसके लिए रोगी. का विशेष चयन आवश्यक है और संशोधन कर्म इस क्रिया का अंग है। इसके लिए एक विशेष 'त्रिगर्भा कुटी' का निर्माण किया जाता है। रोगी पूर्ण आचार के साथ इस कुटी में रहकर रसायन सेवन करता है। विधिवत प्रयोग करने पर कुटी प्रावेशिक रसायन अत्यन्त लाभकर हो सकता है और

'कायाकल्प' में समर्थ हो सकता है। यह विधि कठिन होने से आजकल लुप्त प्राय: है।[75]

औषधि चयन :

आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार औषधि सेवन में वय, प्रकृति, सात्म्य, अग्नि तथा धातुओं का विचार आवश्यक है क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों की जैविक आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य जीवन के प्रत्येक दशक में कुछ विशिष्ट जैविक भावों का ह्रास करता है जैसे- प्रथम दशक से लेकर दशम दशक तक क्रमश: वाल्य, वृद्धि, छवि, मेधा, त्वक्, दृष्टि, शुक्र, विक्रय, वृद्धि एवं कर्मेन्द्रिय का ह्रास।[76] अत: जीवन के उन-उन दशकों में उन-उन भावों के पोषक द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार देह प्रकृति, सात्म्य, अग्नि, धातु, ओजस तथा अनेक आन्तरिक एवं वाह्य भावों का विचार करके ही रसायन औषधि का चयन करना चाहिए।

विशिष्ट रसायन :

मेध्य रसायन :

चरक संहिता में ऐसे रसायनों का विशेष वर्ग बताया गया है जो विशेष रूप से मेधाकर होते हैं, इन्हें 'मेध्य रसायन' कहते हैं। चरक ने शंखपुष्पी, मण्डूकपर्णी, गुडूची एवं मधुयष्टी इन चार प्रमुख मेध्य रसायनों का वर्णन किया है।[77]

औषधियों पर किये गये अनुसंधान से प्रतीत होता है कि इनमें मेधाकर प्रभाव के अतिरिक्त साइकोट्रापिक (Psychotropic) तथा हाइपोटेन्सिव (Hypotensive) प्रभाव भी है। संहिताओं में 'सोम' आदि अनेक 'दिव्य रसायनों' का उल्लेख है जो दिव्य फलदायक तथा 'अष्टऐश्वर्य' दात्री बतायी गयी है, परन्तु ये औषधियाँ अलभ्य है।

नैमित्तिक रसायन :

रोग विशेष से पीड़ित व्यक्ति में रसायन प्रयोग का उद्देश्य मात्र स्वास्थ्य की अभिवृद्धि ही नहीं अपितु रोग निवृत्ति में सहायता करने के अतिरिक्त विशेष रसायन द्रव्यों से रोग का शमन भी है। इस प्रकार के रसायन प्रयोग को 'नैमित्तिक रसायन' कहते हैं। इस प्रकार नैमित्तिक रसायनों में सामान्य रसायन प्रभाव के अतिरिक्त रोग विशेष के शमन की भी क्षमता होती है जैसे शिलाजतु रसायन भी है और प्रमेहघ्न भी, अतः यह प्रमेह रोगी के लिए उपयुक्त नैमित्तिक रसायन है। नीचे कुछ नैमित्तिक रसायनों का उल्लेख किया जा रहा है-

रोग विशेष		नैमित्तिक रसायन द्रव्य
1. दृष्टि रोग	-	ज्योतिष्मती, त्रिफला, शतावरी, यष्टीमधु।
2. हृद्रोग	-	शाल पर्णी।
3. त्वक्रोग एवं कुष्ठ	-	तुवरक, भल्लातक, विडंग, सोमराजी, गंधक।
4. ग्रन्थि एवं गुल्म	-	पिप्पली, भल्लातक।
5. यक्ष्मा	-	रसोन, नागबला, शिलाजतु, पिप्पली।
6. पाण्डु	-	लौह।
7. श्वास	-	अगस्त्य रसायन, भल्लातक।
8. आमवात	-	अमृत भल्लातक।
9. वात व्याधि	-	रसोन, गुग्गुलु, बला, नागबला।
10. प्रमेह	-	शिलाजतु, आमलकी, हरिद्रा।
11. मेदोरोग	-	गुग्गुलु, हरीतकी।
12. रक्तवात	-	रसोन, बला, रास्ना, अन्य मेध्य रसायन।
13. शीत पित्त	-	हरिद्रा।

आचार रसायन :

आयुर्वेद में यह कल्पना की गई है कि रसायन गुण युक्त औषधि तथा आहार के प्रयोग के बिना, केवल सदाचार एवं सद्वृत्त पालन से भी शरीर व मन पर रसायनवत् प्रभाव पड़ता है अर्थात् धातु पोषण की प्रक्रिया में सुधार तथा तज्जन्य दीर्घायु, व्याधि क्षमत्व एवं मेधा वृद्धि प्राप्त होती है। आचार पालन से मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है और मन के स्वस्थ रहने पर शारीरिक क्रियायें स्वस्थ परम्परा में काम करती हुई शरीर में रसायनवत् प्रभाव करती है।

आचार रसायन में जिन भावों का समावेश है उनमें प्रमुख हैं- सत्यवादिता, अक्रोध, मद्यपान तथा मैथुन न करना, अहिंसक आयास रहित, प्रशान्त, प्रियभाषी, जप एवं पवित्रता में तत्पर, धीर, नित्य दान करने वाला, तपस्वी, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु, ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध पुरुषों की पूजा व सेवा सुश्रुषा में रत, नित्य क्रूरता से रहित तथा प्राणियों पर दया दृष्टि रखने वाला, निद्रा और जागरण को समावस्था में सेवन करने वाला, नित्य दुग्ध-घृत का सेवन करने वाला, देश, काल और मात्रा को जानने वाला, युक्ति जानने वाला, अहंकार रहित, सदाचार युक्त, उदार, वृद्ध पुरुषों, आस्तिको एवं संयमी पुरुषों का उपासक तथा उनके साथ रहने वाला, धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला तथा तदनुसार आचरण करने वाला पुरुष शास्त्रानुसार नित्य रसायन सेवी ही है और इन सद्वृत्तों के पालन मात्र से ही उसे रसायनोक्त लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

वयानुसार विभिन्न रसायनों का प्रयोग :

क्र0सं0	वय (वर्षो में)	प्रभाव	रसायन औषधियाँ
1.	1 - 10	बाल्य	वचा, स्वर्ण, काश्मरी
2.	11 - 20	वृद्धि	काश्मरी, अश्वगंधा, बला
3.	21 - 30	छवि	लौह, आमलकी
4.	31 - 40	मेधा	शंखपुष्पी, ज्योतिष्मती
5.	41 - 50	त्वक्	ज्योतिष्मती, प्रियाल, सोमराजी
6.	51 - 60	दृष्टि	ज्योतिष्मती, त्रिफला, शतावरी, सप्तामृत, लौह
7.	61 - 70	शुक्र	आत्मगुप्ता एवं अन्यवाजीकर द्रव्य औषधियाँ कार्यकर नहीं हो सकती है
8.	71 - 80	विक्रम	
9.	81 - 90	बुद्धि	
10.	91 - 100	कर्मेन्द्रिय	

सात्म्यानुसार रसायन औषधियों का प्रयोग :

1. ऋतु सात्म्य :

(अ) आदान काल (फरवरी-जुलाई) में शीत वीर्य एवं लघु गुण वाली औषधियाँ जैसे आमलकी का प्रयोग विहित है।

(ब) विसर्ग काल (अगस्त-जनवरी) में उष्ण वीर्य एवं गुरु गुण वाली औषधियाँ जैसे भल्लातक का प्रयोग कहा गया है।

2. देश सात्म्य :

(अ) साधारण देश - साधारण औषधियाँ।

(ब) जांगल देश - स्निग्धोष्ण औषधियाँ।

(स) आनूप देश - रूक्षोष्ण औषधियाँ।

सप्त धातुओं की दृष्टि से उत्तम रसायन औषधियाँ :

1. रस धातु के लिए - खर्जूर, द्राक्षा, काश्मरी।

2. रक्त धातु हेतु- लौह, आमलकी, भृंगराज, पलाण्डु।

3. मांस धातु हेतु- बला,नागबला, रूदन्ती, अश्वगन्धा, शालपर्णी, काश्मरी, मांस।

4. मेद धातु हेतु- गुग्गुल, शिलाजतु, अमृता, हरीतकी।

5. अस्थि धातु हेतु- अस्थि संहार, लाक्षा, वंशलोचन, शुक्ति, शंख, पृश्नपर्णी।

6. मज्जा धातु हेतु उत्तम रसायन औषधि- लौह, वसा, मज्जा।

7. शुक्र धातु हेतु- आत्मगुप्ता, अश्वगंधा व अन्य वाजीकर औषधियाँ।

देह प्रकृति के अनुसार उत्तम रसायन औषधियाँ :

1. वात प्रकृति- बला घृत साथ नागबला अश्वगन्धा, शंखपुष्पी और अन्य मेध्य औषधियाँ

2. पित्त प्रकृति - आमलकी, शतावरी इत्यादि।

3. कफज प्रकृति - भल्लातक, रसोन, गुग्गुल, पिप्पली इत्यादि।

कुछ महत्वपूर्ण रसायन योग-

आमलकी रसायन, च्यवनप्राश, हरीतकी रसायन तथा ऋतु हरीतकी प्रयोग, त्रिफला लौह रसायन, भृंगराज रसायन, अश्वगंधा रसायन, तिल रसायन, नागबला रसायन, पलाशबीज रसायन, पुनर्नवा रसायन, वृद्धदारुक रसायन, विदारीकन्द रसायन, चित्रक रसायन, अमृतादि रसायन, गुडूच्यादि रसायन, ब्राह्मी रसायन, त्रिफला रसायन, पिप्पली वर्धमान रसायन, शतावरी घृत, वचा रसायन, आमलकी स्वरस, सोमराजी रसायन, रसोन रसायन, विडंग रसायन, विडंगावलेह, भल्लातक रसायन, अमृत

भल्लातक, गुग्गुल रसायन, शिलाजतु रसायन, गंधक रसायन, सुवर्ण रसायन, पंचारविन्द रसायन।

बल्य औषधियाँ : विडंग, वला, अतिवला, नगावला, विदारी, शतावरी, वाराही कंद, विजय सार, अग्निमन्थ आदि द्रव्य।

मेध्य द्रव्य : श्वेत वाकुची, चित्रक मूल, मण्डूक पर्णी, ब्राह्मी, हैमवती वचा, विल्व, नीलोत्पल सुवर्ण, वासा, प्रियंगु, पुत्रंजीव, यष्टीमधु आदि द्रव्य।

दिव्य औषधियाँ : सोम, श्वेत, कापोती, कृष्ण कापोती, गोनसी, वाराही, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु अजा, चक्रिका, आदित्य पर्णिनी, ब्रह्म सुवचर्ला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी तथा महावेगवती। सोम के अतिरिक्त सोम सदृश प्रभाव वाली ये 18 दिव्य औषधियाँ दुर्लभ है।

वाजीकरण

रसायन के समान ही वाजीकरण भी अष्टांग आयुर्वेद का एक अन्यतम अंग है। रसायन तन्त्र का मुख्य उद्देश्य आरोग्य तथा दीर्घायु की प्राप्ति है। स्वस्थ दीर्घ जीवन की प्राप्ति का लक्ष्य है- 1. प्राण परिपालन, 2. धनार्जन, एवं 3. धर्मार्जन। इन्हीं भावों का 'तिस्त्रैषणीय प्रतिष्ठान्' तथा 'पुरुषार्थ चतुष्टय' के नाम से प्राचीन ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है। इन्हें शास्त्रों में विशेष महत्व दिया गया है। मनुष्य 'पुरुष' शब्द वाची तभी होता है जब वह एषणाओं की पूर्ति हेतु तत्पर रहते हुए धर्मार्थकाममोक्ष की प्राप्ति करता है। इसीलिए इन्हें पुरुषार्थ कहते है। तीन एषणायें[78] (प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा) तथा चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) ही मानव जीवन की इहलीला की सार्थकता के आधार है।[79] चरक ने ठीक ही निर्देश

दिया है कि मनुष्य को अपने शरीर, मन, बुद्धि, पौरुष तथा पराक्रम से इस लोक तथा परलोक में हित का विचार करते हुए तीनों प्रकार की एषणाओं की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। तीन एषणाओं में प्राणैषणा सबसे प्रथम है। इसकी पूर्ति हेतु स्वस्थवृत का पालन तथा रूग्ण को युक्तियुक्त रोग प्रशमनोपाय करने चाहिए। प्राणैषणा के उपरान्त धनैषणा होती है। प्राणैषणा तथा धनैषणा के अन्तर्गत ही 'अर्थ' तथा 'काम' पुरुषार्थ भी आ जाते हैं। परलोकैषणा से 'धर्म' तथा 'मोक्ष' पुरुषार्थ का ग्रहण होता है।

आचार्यो ने कामैषणा की पूर्ति हेतु ही कामसूत्रादि ग्रन्थों का सृजन किया है। वाजीकरण तंत्र भी काम शास्त्र का ही सहायक अंग है जो आयुर्विज्ञान का विषय होने से आयुर्वेद के आष्टांगों में गिना गया है। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से भी सांसारिक सुख के तीन ही प्रमुख अंग है- धनार्जन, स्त्री सेवन तथा पुत्रोत्पति। यही तीन मनुष्य को सांसारिक क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करते है। और वाजीकरण मनुष्य की इन तीनों कामनाओं की सम्यक् पूर्ति में सहायक होता है।[80] आधुनिक युग में भी वाजीकरण तंत्र की उपयोगिता पूर्ववत् है।

ब्रह्मचर्य पालन तथा शुक्र संरक्षण के सिद्धान्त से भी वाजीकरण का कोई मौलिक विरोध नहीं है। यह सत्य है कि आयुर्वेद ब्रह्मचर्य तथा शुक्र संरक्षण का उपदेश करता है और ब्रह्मचर्य की गणना जीवन के तीन उपस्तम्भों में की गयी है।[81] परन्तु विधि पूर्वक गम्य स्त्रियों में ऋतु काल में किया गया मैथुन भी विहित कर्म है। आयुर्वेद ने इसका कभी भी निषेध नहीं किया है। युक्ति-युक्त मैथुन कर्म ब्रह्मचर्य तथा शुक्र संरक्षण में सहायक ही होता है। क्योंकि पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन कठिन है, ऐसी स्थिति में अपनी कामैषणा की तृप्ति करते हुए स्वस्थ रहकर

दीर्घायुष्य की प्राप्ति का मार्ग ही व्यावहारिक है और शास्त्रों ने भी इसी का अनुमोदन किया है। आचार्यो ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वाजीकरण तंत्र का उपदेश किया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान निर्विवाद रूप से सर्वाधिक आयु देने वाला है[92] परन्तु इसका पालन कठिन है. अतः गृहस्थाश्रम में रहकर स्वास्थ्य संरक्षण का दूसरा उत्तम उपाय है वाजीकरण सेवन। वाजीकरण प्रयोग से सम्यक् शुक्रोत्पत्ति होती रहती है और शुक्र के क्षय होने पर भी पुरुष में दुर्बलता नहीं आती और साथ ही साथ उसे पूर्ण सांसारिक सुख की प्राप्ति भी होती रहती है। आयुर्वेद सहित सभी प्राचीन शास्त्रों में पुत्रोत्पादन को एक धर्म माना गया है। बिना पुत्रोत्पत्ति के पुरूष अपने पितृ ऋण से उऋण नहीं होता। पुत्र ही 'पुनाम' नरक से पुरुष की रक्षा करता है तथा पुत्र रहित व्यक्ति को स्वर्ग नहीं मिलता। 'बहुप्रज' व्यक्ति प्रशंसा का पात्र तथा पूज्य कहा गया है, इसके विपरित निःसन्तान व्यक्ति निन्द्य माना गया है।

वाजीकरण शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है। वाज का अर्थ है 'शुक्र' या 'वीर्य', जिसके पास शुक्र है वह वाजी है। तदनुसार जिसके पास शुक्र नहीं है वह 'अवाजी' है। 'आवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्' अर्थात् जिस क्रिया से आवाजी को वाजी किया जाता है उसे वाजीकरण कहते हैं। अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार 'वाजी' शब्द का अर्थ होता है 'घोड़ा', तदनुसार वाजीकरण उस युक्ति या क्रिया का नाम है जिसके द्वारा पुरुष घोड़े के समान अप्रतिहत सामर्थ्य युक्त होकर स्त्री गमन करने में समर्थ होता है। वाजीकरण के फलस्वरूप पुरुष स्त्रियों के लिए अतिप्रिय हो जाता है और वह शरीर से पुष्ट, बलवान तथा कान्ति युक्त हो जाता है। एक तीसरी निरूक्ति के अनुसार 'वाज़' शब्द मैथुन कर्म के अर्थ में

लिया जाता है। तदनुसार वाजी (मैथुन शक्ति सम्पन्न) अर्थात् पुंसत्व को बढ़ाने वाली युक्ति या क्रिया का नाम वाजीकरण है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार वाजीकरण उस तंत्र का नाम है जिसमें स्वभावत: अल्पवीर्य व्यक्ति का 'आप्यायन', प्रकुपित दोषों से दूषित वीर्य वाले व्यक्ति का 'प्रसादन', अत्यन्त क्षय को प्राप्त क्षीण वीर्य व्यक्ति का 'उपचय', वृद्धावस्था या प्रौढ़ावस्था में शुष्कवीर्य व्यक्ति का 'शुक्र जनन' तथा स्वस्थ व्यक्ति में शुक्र की 'वृद्धि' एवं स्राव के निमित्त उपाय किये जाय।[83]

वाजीकरण के सेवन से पुरूष को तुष्टि (प्रसन्नता), पुष्टि (बल), गुणवान सन्तान, अक्षुण्ण वंश परम्परा, तात्कालिक प्रहर्षण, शरीर में बल तथा कान्ति की प्राप्ति होती है।[84] वाजीकरण तन्त्र का उपदेश विशेष रूप से 1. अल्प सत्व व्यक्ति, 2. व्याधि के कारण दुर्बल शरीर की क्षय से रक्षा के लिए किया गया है। वाजीकरण सेवी व्यक्ति के लिए सभी ऋतुओं में प्रतिदिन भी मैथुन निषिद्ध नहीं है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार वाजीकरण के मुख्यत: तीन लक्ष्य है: 1. स्त्री में प्रीति उत्पन्न करना 2. सन्तानोत्पत्ति, एवं 3. सद्य: काम तृप्ति के लिए बल या हर्ष उत्पन्न करना। देश, काल, बल एवं प्रकृति आदि का विचार करके यथावश्यक युक्तिपूर्वक शुद्ध शरीर वाले पुरूष में वाजीकरण उपायों का प्रयोग करना चाहिए।[85]

वाजीकरणार्थ- वाजीकरण सामान्य और्जस्कर उपाय होने से व्यापक रूप से उपयोगी है परन्तु निम्नलिखित इसके विशेष विषय हैं।

1. केवल पुरुष ही वाजीकरण का विषय है, स्त्री या नपुंसक नहीं।

2. पुरूष भी तरूणावस्था में ही वाजीकरण योग्य है। वाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में वाजीकरण का निषेध है। सामान्यत: 17-70 वर्ष की आयु ही वाजीकरण योग्य है।[86]

3. अधिक कामी पुरुष को नित्य वाजीकरण सेवन करना चाहिए।

4. आत्मवान तथा सदाचारी व्यक्ति को ही वाजीकरण सेवन उपदिष्ट है। दुरात्मा तथा दुष्ट पुरूषों को वाजीकरण सेवन का उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे लोग वाजीकरण के प्रभाव में कामातुर होकर अगम्या स्त्री में गमन करने लगते हैं जिससे लोक-समाज की परम्परा को हानि पहुचती है।

5. सुश्रुत के अनुसार निम्नलिखित पुरूष वाजीकरण के योग्य हैं-[87]

स्वस्थ व्यक्ति, तरूणावस्था के व्यक्ति, प्रौढ़ावस्था में रमण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति, स्त्रियों की प्रीति चाहने वाले व्यक्ति, अति स्त्री प्रसंग के कारण शुक्रक्षय युक्त पुरुष, क्लीब व्यक्ति, अल्पशुक्र व्यक्ति, विलासी व्यक्ति, धनवान व्यक्ति, रूप व यौवनशाली व्यक्ति और बहुत स्त्री वाले व्यक्ति।

वाजीकरणार्थ में वाजीकरण के अभाव से हानि :

वाजीकरण जिसके लिए आवश्यक हो ऐसे पुरुष द्वारा वाजीकरण के अभाव में स्त्री के वशीभूत होकर गमन करने से ग्लानि, कम्प, अवसाद, कार्श्य, इन्द्रिय क्षीणता, शोष, श्वास, उपदंश, ज्वर, अर्श, भगन्दर तथा अन्य गुदारोग रसादि धातुक्षय, दुर्निवार वातरोग, क्लीवता, ध्वजभंग आदि हानियाँ होती हैं। अतः कामी पुरुष को नित्य वाजीकरण सेवन करना चाहिए।[88]

पंचकर्म

आयुर्वेदीय चिकित्सा तथा स्वस्थवृत्त के सन्दर्भ में 'पंचकर्म' का विशेष महत्व है। कायचिकित्सा की दृष्टि से पंचकर्म[89] के अन्तर्गत (1) वमन, (2) विरेचन, (3) निरूह वस्ति, (4) अनुवासन वस्ति तथा (5) शिरोविरेचन ये पाँच कर्म आते हैं।[90] शल्यचिकित्सा की दृष्टि से (1) वमन (2) विरेचन, (3) वस्ति, (4) शिरोविरेचन तथा (5) रक्तमोक्षण का पंचकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है।[91] आचार्य सुश्रुत ने 'अग्रोपहरणीय' नाम से पूर्वकर्म प्रधान कर्म एवं पश्चात् कर्म का उपदेश दिया है।[92]

आचार्य चरक ने स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् 'उपकल्पनीय' का वर्णन किया है। 'उपकल्पना' का तात्पर्य तैयारी से है। इसके अन्तर्गत वमन विरेचनादि कर्म में उपयुक्त सामग्री से लेकर उपद्रवों के प्रशमनार्थ द्रव्यादि की कल्पना की गयी है। प्रधान कर्म से पूर्व ही यह कल्पना की जाती है, साथ ही उस समय जब प्रधान कर्म तुरन्त करने जा रहे हों, पूर्वकर्म कर चुके हों तो यह कल्पना की जाती है, इसलिए इस कल्पना का नाम उपकल्पना है। इसके अन्तर्गत वमनादि कर्मो का सम्यक् ज्ञान भी कराया गया है जिससे चिकित्सक अतियोग, हीनयोग एवं मिथ्यायोग से बचकर सम्यक् योग युक्त कर्म कर सके।[93]

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त के अनुसार दोष अपने स्थान से चलकर स्रोतोवैगुण्य द्वारा रोग उत्पन्न करते हैं। स्रोतोवैगुण्य को दूर करना तथा दोष निर्हरण ही चिकित्सा है। इसके लिए दोष को उपयुक्त कोष्ठ में लाकर संशोधन कर्म करते है।[94] आचार्य चरक ने (1) दोष वर्धन, (2) विष्यन्दन, (3) पाक, (4) स्रोतोमुख

विशोधन तथा (5) वायुनिग्रह, ये पाँच उपाय बताये हैं जिनके द्वारा दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाया जा सकता है।[95]

पंचकर्म द्वारा शुद्ध शरीर में निम्नलिखित गुण उत्पन्न होते हैं-

(अ) कायाग्नि तीक्ष्ण हो जाती है। व्याधियों का प्रशमन हो जाता है। स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है। इन्द्रियाँ प्रसन्न होती है। इन्द्रियाँ मन एवं बुद्धि स्वकार्य में तत्पर हो जाते हैं। शरीर के वर्ण का प्रसादन हो जाता है। बलवृद्धि होने लग जाती है। शरीर पुष्ट हो जाता है। मनुष्य सन्तानोत्पत्ति के योग्य हो जाता है। वृषता आ जाती है। जरावस्था विलम्ब से आती है। रोग रहित दीर्घायु की प्राप्ति होती है।[96]

(ब) संशोधन द्वारा विजित दोषों का पुनरूद्भव नहीं होता और व्याधि समूल नष्ट हो जाता है।[97]

पंचकर्म केवल कायचिकित्सा का सहायक विषय न होकर आयुर्वेद के आठों अंगों में प्रयोज्य है। यह आयुर्वेदीय चिकित्सा का आधारभूत कर्म है। विना संशोधन के आयुर्वेदीय चिकित्सा सर्वदा अपूर्ण है। पंचकर्म तथा अन्य संशोधन कर्म संशमन चिकित्सा की पूरक चिकित्सा होने के अतिरिक्त अनेक अवस्थाओं में स्वयं पूर्ण चिकित्सा भी है। संशोधन, संशमन तथा निदान परिवर्जन के यथायुक्त प्रयोग द्वारा सभी रोगों का निराकरण सम्भव बताया गया है।[98] स्वस्थवृत्त[99] तथा जनपदोध्वंस[100] के प्रसंग से लेकर रसायन- वाजीकरण[101], शल्य-शालाक्य, कौमारभृत्य (बालरोग) तथा भूतविकारों की चिकित्सा व्यवस्था तक पंचकर्म विधान का महत्व है। बाल रोगों में स्तन्य दुष्टिजन्य रोग, कुकूणक, पारिगर्भिक, तालुकण्टक, शिशुविसर्प, वातज्वर

आदि विकारों की चिकित्सा पंचकर्म से की जाती है। ग्रह व्याधियों में रेवती, पूतना, शीतपूतना, कटपूतना, अन्धपूतना, स्कन्धग्रह इत्यादि की चिकित्सा में शोधनकर्म का प्रयोग किया जाता है। विषतंत्र में भी शोधन का बहुत ही महत्व है। स्थावर विष के प्रथम वेग में वमन, द्वितीय वेग में वमन-विरेचन, तृतीय वेग में नस्य, चतुर्थ वेग में स्नेहपान, पंचम वेग में मूर्धा से रक्त मोक्षण कराने का उपदेश किया गया है।[102] शालाक्य तंत्र के अधिकांश रोगों की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, नस्य, परिषेक, विरेचन, वमन, शिरोवस्ति तथा वस्तिकर्म का निर्देश है।[103] शल्यतंत्र में व्रण षष्ट्युपक्रम में पहले ही स्नेहन, स्वेदन, परिषेक, वमन, विरेचन, वस्ति नस्य आदि का उल्लेख है। कटिभग्न में भी वस्ति चिकित्सा का विधान है। अर्श, भगन्दर, अपची, ग्रन्थि तथा अर्बुद के क्रियाक्रम में भी संशोधन निर्दिष्ट है। इस प्रकार पंचकर्म तथा तत्सम संशोधन क्रियाओं का बहुत ही व्यापक प्रयोग है।[104]

पंचकर्मादि संशोधन कर्मो का रोगों की चिकित्सा तथा स्वस्थ्य व्यक्ति में रोगों के प्रतिषेधार्थ प्रयोग निर्दिष्ट है। दोषों की गतियों का कालानुसार विवेचन करके संशोधन व्यवस्था करने से रोग की उत्पत्ति ही नहीं होती है और मनुष्य विभिन्न ऋतुओं तथा देशकालादि के परिवर्तनों के साथ भी स्वस्थ बना रहता है। अतः उपयुक्त काल में संशोधन कर्म स्वस्थवृत्त का अंग है। चरक संहिता में कहा गया है कि हेमन्त ऋतु में संचित दोष (कफ) को बसन्त में, ग्रीष्म ऋतु में संचित दोष (वायु) को प्रावृट् व वर्षाकाल में और वर्षा ऋतु में संचित दोष (पित्त) को शरद ऋतु में संशोधन कर्मो (क्रमशः वमन, वस्ति तथा विरेचन) द्वारा निर्हरित कर देने से मनुष्य में ऋतुओं के प्रभाव से होने वाले रोग उत्पन्न नहीं होते।[105] आचार्य सुश्रुत ने भी महर्षि चरक के समान ही उपदेश किया है कि रोगोत्पत्ति के पूर्व ही दोषों का

हरण करना चाहिए। इसके लिए बसन्त ऋतु में कफ का, शरद ऋतु में पित्त का तथा वर्षा ऋतु में वायु का शमन करना चाहिए क्योंकि ये उन दोषों के प्रकोप काल है। अष्टांग हृदय में वागभट्टाचार्य ने भी कहा है- ग्रीष्म ऋतु अति उष्ण होती है, वर्षा ऋतु में अत्यधिक वर्षा होती है और शीतकाल में अत्यधिक शीत पड़ती है। अत: इनमें स्वाभाविक दोष प्रकोप होते है, इसलिए इनके साधारण सन्धि काल में दूषित दोषों का शोधन करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऋतुसन्धियों में दोषानुसार संशोधन करना चाहिए। इसके अनुसार ऋतुसंधियाँ ही दोषहरण के लिए उपयुक्त काल है। महर्षि चरक के अनुसार माधव (वैसाख) से प्रथम मास अर्थात् चैत्र में, नभस्य (भाद्रपद) अर्थात् श्रावण में, सहस्य (पौष) से प्रथम मास अर्थात् मार्गशीर्ष में, वमन, वस्ति, विरेचनादि संशोधन कर्मो द्वारा दोष संचय का निर्हरण करना चाहिए।[106]

स्नेहनकर्म :

यह एक प्रमुख पूर्वकर्म है। चरक ने स्नेह कर्म के गुण बतलाते हुए इसे स्नेहन, विष्यन्दन, मार्दवकर तथा क्लेदक कहा है।[107] चरक संहिता सूत्र स्थान के तेरहवें अध्याय में स्नेह तथा स्नेहन का विस्तृत वर्णन मिलता है।[108] स्नेहन क्रिया को पंचकर्म का महत्वपूर्ण पूर्व कर्म माना गया है। बिना स्नेहन के संशोधन करने से भयंकर उपद्रवों की सम्भावना रहती है। सभी स्नेहन द्रव्य अप् महाभूत प्रधान होते है। कफ, मेद तथा आम से स्नेहन की समानता होती। घृत, तैल, वसा व मज्जा ये चार प्रमुख स्नेह वर्ग है। इनमें से घृत सर्वोत्तम स्नेह कहा गया है।[109]

स्नेहपान काल :

शरद ऋतु में घृत, बसन्त में वसा और मज्जा एवं प्रावृट् में तैल का पान करने का वर्णन है। अत्यन्त उष्ण तथा अत्यन्त शीतकाल में स्नेहन निषिद्ध है[110] दोष भेद से स्नेहपान के काल का निर्देश करते हुए चरक ने लिखा है कि वात, पित्त जिसमें अधिक हो और आत्ययिक रोग में गर्मी में भी रात्रि को स्नेहपान कराना चाहिए। जिसमें कफाधिक्य हो और आत्ययिक व्याधि में शीतकाल में भी दिन में जब सूर्य निर्मल हो तो स्नेहपान कराया जा सकता है।[111]

स्नेहानुपान :

घृतपान के पश्चात उष्ण जल पीना चाहिए। तैलपान के पश्चात् यूष पीना चाहिए। वसा मज्जा पान के पश्चात् मण्ड लेना चाहिए अथवा सभी स्नेहों के पान के पश्चात् उष्ण जल उपयुक्त अनुपान बताया गया है परन्तु भल्लातक तथा तुवरक स्नेहपान के सन्दर्भ में उष्ण जल अनुपान निषिद्ध कहा गया है। यहाँ पर शीतल जल ही उचित है।[112]

स्नेहकल्पना एवं मात्रा :

स्नेहपान स्वयं स्वच्छ रूप में (अच्छस्नेह) किया जा सकता है इसको स्नेह की 'मुख्य कल्पना' माना गया है।[113] जिन व्यक्तियों में स्नेह के प्रति अनिच्छा हो उन्हें विभिन्न 'प्रविचारणाओं' के माध्यम से स्नेहपान कराया जाता है। चरक ने ऐसी चौबीस प्रविचारणाओं का वर्णन किया है।[114]

स्नेह की जो मात्रा अहोरात्र (24 घण्टे) में जीर्ण हो जाती है वह प्रधान मात्रा कही जाती है जो दिन भर (12 घण्टे) में जीर्ण हो जाती है वह मध्यम

मात्रा कही जाती है और जो मात्रा आधे दिन (6 घण्टे) में जीर्ण हो जाती है वह स्नेह की अवर (सबसे कम) मात्रा कहलाती है।[115] सुश्रुत संहिता में पाँच प्रकार की स्नेह मात्रायें बतायी गयी हैं जो क्रमशः एक, दो, तीन, चार और आठ प्रहर में जीर्ण हो जाती हैं।[116] इसके पश्चात् स्नेह सात्म्य हो जाता है। ये प्रकर्ष क्रमशः क्रूरकोष्ठ तथ मृदु कोष्ठ के लिए कहे गये है[117] और ये अच्छ स्नेहपान के प्रकर्ष है।

स्नेहनकर्म योग्यायोग्यता :

महर्षि चरक के अनुसार जो स्वेद्य हो, जो संशोधन योग्य हों जो रूक्ष हों, वात विकार से पीड़ित हों, नित्य व्यायाम करने वाले, नित्य मद्यपान करने वाले, नित्य स्त्रीगामी, एवं चिन्तन में लगे रहने वाले व्यक्ति स्नेहन के लिए उपयुक्त होते है।[118]

निम्नलिखित व्यक्तियों को स्नेहन के अयोग्य कहा गया है (1) जो रूक्षण के योग्य हों (2) जो स्थूल तथा मेदस्वी हों (3) लालास्वभाव व अतिसार पीड़ित हों, (4) मंदाग्नि पुरुष, (5) तृष्णा तथा मूर्च्छा से पीड़ित (6) गर्भिणी, (7) तालुशोषी, (8) अन्नद्वेष, अरूचि, छर्दि से पीड़ित, (9) उदररोग, आम दोष तथा विषार्त्त, (10) दुर्बल, प्रतान्त ग्लानियुक्त, (11) मद से पीड़ित।

वस्ति कर्म तथा नस्यकर्म के समय वातानुलोमन, दीप्ताग्नि, मल का स्निग्ध तथा असंहत होना तथा शरीर में मार्दव तथा स्निग्धता ये सुस्निग्ध व्यक्ति के लक्षण है।[119]

स्वेदन कर्म :

पंचकर्म के अन्तर्गत दूसरा कर्म स्वेदन है। किसी अंग विशेष या सम्पूर्ण शरीर में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष विभि से अग्निसम्पर्क करा कर स्वेद उत्पन्न करना ही स्वेदन कर्म है। शरीर के सूक्ष्म स्रोतों में पड़े हुए लीन दोष स्वेदन द्वारा द्रवित होकर बाहर निकल जाते हैं। वस्तुत: शरीर के सूक्ष्मांशों में लीन हुए दोष स्नेहन द्वारा स्निग्ध होकर स्वेदन द्वारा द्रवित होकर कोष्ठगत हो जाते हैं। जहाँ से वमन विरेकादि शोधन कर्मो द्वारा उनका निर्हरण किया जाता है जो दोष बहि: मार्गगत होते हैं वे बिना संशोधन के ही स्नेहन स्वेदन द्वारा बाहर निकल जाते हैं। आभ्यन्तर मार्ग में स्थित दोषों को कोष्ठ में लाकर शोधन द्वारा बाहर निकालना पड़ता है।

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से स्वेदन कई प्रकार का होता है-

(क) एकांग स्वेद- सर्वांग स्वेद।

(ख) साग्नि स्वेद- अनग्नि स्वेद।[120]

(ग) स्निग्ध स्वेद- रूक्ष स्वेद।

(घ) ऋतु व रोगी के वलाबलानुसार प्रधान, मध्यम व दुर्बल स्वेद।

(च) विधि भेद से ताप स्वेद, उष्मस्वेद तथा उपनाह स्वेद।[121]

(छ) संशमनीय स्वेद, संशोधनांग भूत स्वेद।

संकर स्वेद, प्रस्तर स्वेद, नाड़ी स्वेद, परिषेक, अवगाह, जेन्ताक स्वेद, अश्मघन स्वेद, कर्षु स्वेद, कुटी स्वेद, भू: स्वेद, कुम्भी स्वेद, कूप स्वेद तथा होलाक स्वेद ये तेरह प्रकार के साग्नि स्वेद हैं।[122] व्यायाम, उष्णगृह, गुरूप्रावारण,

क्षुधा, उष्णपान (मद्यपान), भय, क्रोध, उपनाह, आहव (मुष्टि युद्ध), तथा आतप- ये दस प्रकार के अनाग्नि स्वेद है।[123]

स्वेद वात कफ के विकारों में लाभप्रद होता है। पित्त स्वयं उष्ण तथा तीक्ष्ण गुणयुक्त होता है अतः उस तीक्ष्ण गुणयुक्त स्वेदन कर्म पैत्तिक विकारों में निषिद्ध है फिर भी कुछ पित्त विकारों में मृदु स्वेद किया जा सकता है।

निम्नलिखित प्रमुख प्रकार के विकार स्वेदनार्ह माने जाते हैं। (1) वात प्रधान विकार (2) कफ प्रधान विकार, (3) संशोधन योग्य तथा शल्यकर्म योग्य विकार।

सम्यक् रूप से स्वेदन के निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं- (1) शीतोपरम, (2) शूलोपरम, (3) स्तम्भ निग्रह, (4) गौरव निग्रह, (5) मार्दव, (6) स्वेद प्रादुर्भाव, (7) रोग लक्षण शमन, (8) शीत सेवन की इच्छा।

स्वेदन कर्म प्रधानतः निम्नलिखित चार प्रकार से शरीर में प्रभाव उत्पन्न करता है- (1) स्तम्भघ्न (2) गौरवघ्न, (3) शीतघ्न, (4) स्वेदकारकता।

स्वेदन के अन्य प्रभाव होते हैं-(1) दोषों का द्रवीकरण[124] (2) वातनियमन[125] (3) गातविनामन, (4) अग्निदीपन, (5) त्वक्मार्दव एवं प्रसादन (6) भक्तश्रद्धा (7) स्रोतो-शुद्धि (8) निद्रा-तन्द्रा नाश, (9) संधिचेष्टाकर, (10) दोषशोधन।

वमन कर्म :

दोषों के निर्हरण के लिए वमन तथा विरेचन कर्मो का प्रयोग किया जाता है। ऊर्ध्व मार्ग से दोषहरण को 'वमन' तथा अधोमार्ग से दोषहरण को विरेचन कहते हैं। इन उपक्रमों द्वारा शरीर के मलों का निर्हरण होने से दोनों को ही 'विरेचन' कहा जाता है और इस सन्दर्भ में वमन को 'ऊर्ध्व विरेचन' भी कहा

जाता है। वमन कर्म आमाशय आदि पाचन संस्थान तथा श्वसन संस्थान के ऊर्ध्व मार्ग का शोधन करता है। विरेचन क्रिया द्वारा पाचन संस्थान तथा यकृत आदि के अधोमार्ग का शोधन होता है।

वमन शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से 'वन उद्गार' धातु से है। वन, वमन, वमि तथा वमथु ये चार शब्द वमन से सम्बन्धित है। इनका तात्पर्य छर्दन, निस्सारण, अभिष्यन्दन तथा आहरण से है। इस प्रकार ये चारो शब्द वमन की कार्मुकता को स्पष्ट करते हैं। आयुर्वेद में दोषों को ऊर्ध्व मार्ग से अर्थात् मुख से बाहर निकालने को वमन कहा जाता है। दोष शब्द तीनों दोषों का वाचक है, परन्तु वमन प्रधानतः कफ दोष की चिकित्सा है। शार्ङ्गधर संहिता के अनुसार पित्त तथा कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर निकालने की प्रक्रिया वमन है।[126]

शरीर दोषों के संशोधनार्थ वात के लिए वस्ति, पित्त के लिए विरेचन तथा कफ के लिए वमन सर्वश्रेष्ठ उपाय कहे गये हैं। महर्षि सुश्रुत ने क्षीण दोष में बृहंण, प्रकुपित दोषों में शमन तथा वृद्ध दोषों में निर्हरण करने का निर्देश किया है। दोषों के निर्हरणार्थ आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन एवं वस्ति कर्मो का प्रयोग करते है।[127]

कार्मुकता दृष्टि से वामक द्रव्य प्रायः उष्ण, व्यवायि, विकाशी, ऊर्ध्वभाग प्रभावी होते है।[128] आयुर्वेदीय संहिताओं में अनेक वमन द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। चरक ने वमन द्रव्यों के अतिरिक्त 'वमनोपग गण' का भी वर्णन किया है। वमनोपग द्रव्य वे है जो वमन प्रक्रिया में सहायक होते हैं। कहीं-कहीं अद्रव्यंभूत वमन का उल्लेख मिलता है जैसे दुर्गन्धित पदार्थो से, वीभत्स दर्शन से तथा इसी प्रकार के अन्य भावों से ही वमन हो जाता है इसके अतिरिक्त जिह्वामूल का

अंगुली से स्पर्श करने से भी वमन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। चरक ने कल्प स्थान में वमन-विरेचन के अनेकानेक योग बताये हैं, जिनका आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता है।

वमन मुख्यरूप से आमाशय शोधन करता है और आमाशय के कफ का मूल स्थान होने से कफ विकार का मूलोच्छेदन हो जाता है और सम्पूर्ण कफ पर विजय प्राप्त होती है। क्षतक्षीण, पीड़ित, अतिस्थूल, अतिकृश, बाल, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त, पिपासित, क्षुधित, कर्महत, भारहत, अध्वहत, उपवासित, मैथुन प्रसक्त तथा अध्ययन प्रसक्त व्यक्तियों को अवम्य निर्दिष्ट किया गया है।[129]

वमन विधि :

वम्य पुरुष में निम्नलिखित विधि से वमन कर्म करना चाहिए-

(क) पूर्व कर्म :

(1) सभार संग्रह अर्थात् वामक औषधि, परिचारक, पात्र, उष्ण जल आदि युक्तिपूर्वक संग्रह, विशेषरूप से उपद्रव हो जाने पर दी जाने वाली औषधियों का संग्रह तथा अन्य व्यवस्था, (2) आतुर परीक्षा-दोष, भेषज, देश, काल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति आदि का मूल्यांकन, (3) वमन योग की कल्पना तथा मात्रा का निर्णय। चरक ने मदनफल पिप्पली की मात्र अन्तर्नख मुष्टि प्रमाण देने का निर्देश किया है। शार्गधर ने वमनार्थ क्वाथ की उत्तम मात्रा 9 प्रस्थ, मध्यम मात्रा 6 प्रस्थ तथां अवर मात्रा 1 पल बतायी है। भावप्रकाश ने भी शार्गधरोक्त मात्रा का ही निर्देश किया है। व्यवहार में वमन हेतु क्वाथ 4-8 औस तथा चूर्ण कल्क 1 तोला तक देना उचित है, (4) आतुर सिद्धान्त वमन के पूर्व आतुर को सिद्ध

करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है जैसे वमन पूर्व भोजनादि व्यवस्था तथा कफोत्क्लेशकर आहार, स्नेहन, स्वेदन एवं मानसोपचार।

(ख) प्रधान कर्म :

वमन कर्म में निम्नलिखित कर्म प्रधान कर्म के अन्तर्गत आते है

(1) वमनौषधि पान, (2) आतुर परिचर्या तथा निरीक्षण, (3) वमन वेगों का मूल्यांकन, (4) सम्यक्, अति या हीन वमन के लक्षणों का निरीक्षण, (5) वमन व्यापत् निरीक्षण तथा उसकी व्यवस्था।

स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् वम्य आतुर को वमन कक्ष में वमन पीठ पर आसीन कराकर उसकी नाड़ी, श्वास-गति, रक्तचाप आदि का परीक्षण करना चाहिए। तदनन्तर रोगी को दुग्ध, इक्षुरस, मांसरस, मद्य या तत्सम कोई भी द्रव पिला देना चाहिए। प्रायः इक्षुरस या दुग्ध देना ही उत्तम है। वमनौषधि पान के बाद एक मुहुर्त (48 मिनट) तक रोगी का निरीक्षण करना चाहिए। जब रोगी को रोमहर्ष, लालास्राव तथा ललाट प्रदेश में स्वेद आने लगता है तदुपरान्त वमन के वेग आते हैं। यदि वमन का वेग न आये तो रोगी को अपनी अंगुली, कमल नाल से या एरण्ड की शाखा से गले के अन्दर स्पर्श करके वमन वेग को प्रवृत करना चाहिए। यदि फिर भी वेग न आए तो परिचारक स्वयं मदनफलयोग एवं मधु का रोगी के गले में प्रतिसारण कर दें। इससे वेग तुरन्त आ जाता है। उत्तम वमन में 8 वेग, मध्यम वमन में 6 वेग तथा हीन वमन में 4 वेग आना चाहिए। वेगोत्सृष्ट द्रव्य का वर्ण देखकर पितान्त आदि का निर्णय करना चाहिए।[130] वेगोत्सृष्ट द्रव्य का प्रमाण प्रवर में 2 प्रस्थ, मध्यम वमन में 1.5 प्रस्थ तथा हीन वेग में 1 प्रस्थ होना चाहिए।[131]

वमन के उपरान्त वमन किये पदार्थ को एकत्र करके उसका माप करना चाहिए तथा उसकी भौतिक तथा रासायनिक परीक्षा करनी चाहिए। विशेषरूप से उसकी क्षारता (pH) आदि का आकलन महत्वपूर्ण है।

सम्यक् वमन के लक्षण

काले प्रवृत्तिः, यथाक्रम कफ, पित्त, वात दोष का निर्हरण, स्वयं अवस्थान हृदय शुद्धि, पार्श्व शुद्धि, मूर्धा शुद्धि, स्रोतो शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि, लघुता, कार्श्य, दौर्बल्य, कण्ठ शुद्धि, कफ संस्रव स्थिति, अनतिमहति व्यथा[132,133] ये सभी उचित मात्रा में वमन क्रिया के लक्षण हैं।

असम्यक् वात के लक्षण-

वेग की अप्रवृत्ति, केवल औषध प्रवृत्ति, वेग विबंध, हृदयाशुद्धि, स्रोतो अशुद्धि, गुरू गात्रता, स्फोट, कोठ, कण्डु, कफ प्रसेक, ज्वर आदि लक्षणों की उपस्थिति तथा फेनिलयुक्त वमन, रक्त चन्द्रिका युक्त वमन, तृषा, मोह, मूर्च्छा, वातप्रकोप, निद्रा हानि, बल हानि, हृत्पीड़ा, कंठपीड़ा, तमः प्रवेश, भ्रम, पत्तिादि योग, अत्यन्त रक्तस्राव से मृत्यु, दाह ये सभी प्रकुपित वात के लक्षण कहे गये हैं।

वमन व्यापत् :

व्यापत् के मुख्य चार हेतु बताये गये हैं।[134] महर्षि चरक ने वमन तथा विरेचन की 10 **व्यापत्तियाँ बतायी हैं[135]- यथा आध्मान, परिकर्त, स्राव, हृद्ग्रह, गात्र** ग्रह, जीवादान, .विभ्रंश, स्तम्भ, उपद्रव, क्लम।

इन व्यापदों में प्रायः कर्म का अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग कारण होते है। परन्तु व्यापद् वेगों का चार प्रकार से प्रवृत्त होना सम्भव है- (1) वेग की पूर्ण

अप्रवृत्ति (2) अल्प प्रवृत्ति, (3) असम्यक् प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिलोम प्रवृत्ति, तथा (4) अति प्रवृत्ति।[136]

महर्षि सुश्रुत ने वमन-विरेचन के 15 व्यापत्[137] कहे हैं- वमन की अधोमार्ग से प्रवृत्ति अर्थात् वमनौषधि से विरेचन होना, औषधि का सावशेषत्व, जीर्णोषधत्व, हीन दोषापहरण, वातशूल, अयोग, अतियोग, जीवादान, आध्मान, परिकार्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयापसरण, विबंध, तथा विरेचन औषधि की उर्ध्व गति अर्थात् विरेचन औषधि द्वारा वमन होना।

स्वेदन ठीक से न होने से, रोगी का बल अधिक होने से, औषधि गुणहीन या मन्दगुण होने से, कोष्ठ के क्रूर या अतिमृदु होने से, आम की प्रधानता होने से, रोगी की अग्नि के अत्यन्त तीक्ष्ण होने से वमन का अयोग होता है। इस प्रकार की स्थिति में पुनः वमन कराना चाहिए। अतियोग में रोगी की मृदुकोष्ठता तथा औषधि की तीक्ष्णता तथा मात्राधिक्य हेतु होते हैं।

(ग) पश्चात कर्म :

वमनोपरान्त आतुर को पुनः प्राकृत भोजन तक लाने के समय तक जो कुछ व्यवस्था की जाती है वही पश्चात् कर्म है जैसे- (1) धूम्रपान[138] (2) आतुर के परिहार्य विषयों का निर्देश[139] (3) संसर्जन क्रम[140] (4) संतर्पण चिकित्सा[141] (5) वमनोत्तर शोधन सिद्धान्त[142] संसर्जन क्रम के अन्तर्गत पेयादि क्रम में क्रमशः प्रवर, मध्य तथा अवर शुद्धि वाले रोगी को पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृत यूष, अकृत मांस रस, कृत मांस रस के क्रमशः तीन, दो और एक अन्नकाल देकर सात दिन में प्राकृत आहार पर लाया जाता है।[143] सुश्रुत ने पेयादि क्रम के स्थान पर कुलत्थ

आढ़की या जांगलमांस का यूष भी देने का निर्देश किया है।[144] चरक ने पेयादि क्रम के अतिरिक्त वमन के बाद सात दिन तक विशेष प्रकार से आहार देकर संसर्जन करने का निर्देश किया है।[145]

कई अवस्थाओं में दोषादि का विचार करके पेयादि संसर्जन क्रम के स्थान में तर्पणादि क्रम करने का भी विधान है।[146]

वमन के उपरान्त यदि अन्य उपक्रम न करना हो तो जिस व्याधि के लिए शोधन किया गया हो, उसकी शमन चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। वमन के बाद यदि विरेचन करना हो तो सातवें दिन सायंकाल प्राकृत भोजन करने के बाद नवें दिन से स्नेहपान प्रारम्भ कर 15वें दिन विरेचन करना चाहिए।[147]

विरेचन कर्म :

दोषों के अधोमार्ग से अर्थात् गुदामार्ग से बाहर निकालने की क्रिया को 'विरेचन' कहते है।[148] दोष हरण से तात्पर्य केवल वातादि दोषों के निर्हरण मात्र से नहीं अपितु सभी प्रकार के मलादि उपघातकर भावों से है। शार्ङ्ग.धर ने विरेचन से मलादि का निर्हरण उपदिष्ट किया है। मल विसर्जन प्रक्रिया द्वारा शोधन करने वाले कर्म विशेष को विरेचन कहा गया है। दोष विशेष के निर्हरण की दृष्टि से विरेचन पित्त दोष के निर्हरण का विशिष्ट उपक्रम है।[149] संसृष्ट कफ तथा पित्तस्थान कफ के निर्हरणार्थ विरेचन कर्म निर्दिष्ट है।[150]

विरेचन शब्द मूल 'रिच्' धातु में 'वि' उपसर्ग और णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय से बनता है- 'वि+रिच+णिच्, ल्युट्= मलादेः निस्सरणं विरेचनम्'। अर्थात् सभी मार्गो से मल के निकाले जाने को विरेचन कहा जा सकता है। आयुर्वेद में गुदमार्ग से

दोषों के निर्हरण को ही विरेचन कहा जाता है। विरेचन अधोभागहरण कारक शोधन है। यह पित्त दोष के लिए विशेष उपक्रम है। विरेचन में वमन की तरह शरीर को कष्ट नहीं होता और उपद्रव भी कम ही होते हैं।

विरेचन द्रव्यों में भी वही भौतिक गुण होते हैं जो वमन द्रव्यों में है यथा उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकाशी आदि गुण ये गुण पृथ्वी तथा जल महाभूत भूयिष्ठ होते है और उनमें अधोभागहरण का प्रभाव होता है। विरेचनार्थ अनेक औषधियों का उल्लेख है। सुखपूर्वक विरेचन हेतु त्रिवृतमूल को श्रेष्ठ माना गया है। मृदुविरेचक अमलतास तथा तीक्ष्ण विरेचनार्थ स्नुहीक्षीर का प्रयोग विशेष रूप से प्रशस्त है।[151] अन्य विरेचन द्रव्यों में सप्तला, शंखिनी, तिल्वक, दन्तीबीज, द्रवन्ती, एरण्ड, हरीतकी,विभीतक, द्राक्षा, पीलु, आमलकी, कम्पिल्लक, इन्द्रवारूणी, करंज, पूतिकरंज आदि विशेषरूप से प्रयोज्य है। विरेचन द्रव्यों को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया जाता है-

(क) मृदुविरेचन जैसे आरग्वध, मध्यम विरेचन जैसे त्रिवृत तथा तीक्ष्ण विरेचन जैसे स्नुही।

(ख) अनुलोमन जैसे हरीतकी, स्रंसन जैसे आरग्वध, भेदन जैसे कुटकी, विरेचन जैसे त्रिवृत।

(ग) स्निग्ध विरेचन तथा रूक्ष विरेचन।

निम्नलिखित अवस्थायें विशेषरूप से विरेच्य है[152]-

(1) पित्त प्रधान रोग जैसे कामला, पाण्डु।

(2) रक्तज रोग जैसे कुष्ठ, विसर्प, रक्त पित्त, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, वातरक्त इत्यादि।

(3) जहाँ व्याधि के गति से विपरीत गति करना हो जैसे उर्ध्वग रक्तपित्त, छर्दि इत्यादि।

(4) शोधन प्रधान व्याधियाँ जहाँ मलों का बाहर निकालना अत्यन्त आवश्यक है, जैसे उदावर्त्त, कृमिकोष्ठ, गरदोष, शोथ, विबंध इत्यादि।

(5) जहाँ वमन के उपरान्त विरेचनादि शोधन आवश्यक हो जैसे कुष्ठ, अपची, उन्माद इत्यादि।

(6) ऐसे अवयवों के रोग जो पित्त के अधिष्ठान हैं जैसे हृद्रोग, ज्वर कामला इत्यादि।

अविरेच्य :

(अ) रोगी : विरेचन कराने से बल की हानि होती है, इसलिए जिनका बल पहले से ही क्षीण हो उसको विरेचन नहीं कराना चाहिए। जैस- लंघित, दुर्बलेन्द्रिय, अल्पाग्नि, कामादि व्यग्र, अतिस्निग्ध, अभिहत, अतिस्थूल, अतिकृश, बाल, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त, पिपासित, उपवासित, मैथुन-प्रसक्त, अध्ययन, व्यायाम, चिन्ता-प्रसक्त, क्षाम, गर्भिणी, नवप्रसूता इत्यादि।

(ब) रोग : निम्नलिखित रोगों में विरेचन देने से रोग की वृद्धि होती है तथा अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं- अजीर्ण, नवज्वर, क्षतगुद, मुक्तनाल, अधोगरक्तपित्त मदात्यय, आध्मान, नवप्रतिश्याय, राजयक्ष्मा, अतिसार तथा हृद्रोग।

विरेचन विधि : पूर्व कर्म के रूप में औषधि संग्रह तथा आतुर परीक्षा के अतिरिक्त रोगी को विरेचन कर्म के लिए मानसिक रूप से तैयार करना चाहिए।

यदि वमनादि न कराते हुए विरेचन कराना हो तो भी स्नेहन-स्वेदनादि पूर्वकर्म करना चाहिए। यदि पूर्ण पंचकर्म विधान से वमन के बाद विरेचन कराना हो तो निम्नलिखित क्रम आवश्यक है- (1) स्नेहन, (2) स्वेदन, (3) वमन, (4) संसर्जन क्रम, (5) पुनः स्नेहन, स्वेदन, (6) विरेचनोपग औषधि तथा आहार का सेवन। विरेचनकर्म वमन के 14वें दिन आता है, अतः संसर्जन क्रम के बाद सातवें दिन प्राकृत आहार देकर पुनः स्नेहपान नवे दिन प्रारम्भ करना चाहिए। नवें से बारहवें दिन तक स्नेहन तथा बारहवें से पन्द्रहवें दिन तक अभ्यंग स्वेद करना चाहिए। इसके बाद तीन दिन स्नेहन बन्द करके केवल मात्र विरेचनोपग आहार देना चाहिए। विरेचनोपग द्रव्यों में स्निग्ध, द्रव, उष्ण, मांस, रस, भात, अम्लफलों के रस देना श्रेयष्कर है।[153] तीन दिन तक इन द्रव्यों के सेवन के पश्चात् रोगी के बलाबल का विचार कर उपयुक्त विरेचन द्रव्य की मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। साथ-साथ रोगी के कोष्ठ की स्थिति का भी विचार करना चाहिए जिससे मात्रा तथा द्रव्य का उचित निर्धारण हो सके।[154]

प्रधानकर्म : प्रातः स्वस्तिवाचनादि कर त्रिवृत चूर्ण या अन्य विरेचन योग का सेवन करना चाहिए। वाग्भट ने विरेचन काल पर विचार करते हुए निर्देश दिया है कि विरेचन औषधि कफकाल बीत जाने के उपरान्त लेनी चाहिए। सुश्रुत ने बिना वमन कराये विरेचन कराने को हानिकर कहा है।[155] सामान्य रूप से विरेचन हेतु निम्नलिखित योग का प्रयोग करना चाहिए।

द्राक्षा 1 तोला आरग्वध 1 तोला हरीतकी 1 तोला कुटकी 1/2 तोला	जल 16 तोला = क्वाथ = शेष 4 तोला। यह एक विरेचन मात्रा है, और मृदु विरेचन कराता है।

तीक्ष्ण विरेचन कराने के लिए उपरोक्त 4 तोला क्वाथ में 2 तोला एरण्ड तैल तथा 4 रत्ती इच्छाभेदी रस मिलाकर पिलाना चाहिए। इच्छादि रस क्वाथ के ठण्डा हो जाने पर ही मिलायें। मध्यम विरेचन कराने के लिए क्वाथ में केवल एरण्ड स्नेह का प्रयोग होता है।

विरेचन मात्रा पिलाने के बाद विरेचन वेगों की प्रतीक्षा करनी चाहिए और औषधि की कार्मुकता या किसी प्रकार के उपद्रव आदि पर ध्यान रखना चाहिए। योग्य विरेचन में प्रथम मल, फिर पित्त, फिर कफ का विसर्जन होता है तथा शरीर में दुर्बलता तथा लाघव की अनुभूति होती है। वेग संख्या के आधार पर 30 वेग आने पर प्रवर, 20 वेग पर मध्यम तथा 10 वेग पर हीन शोधन मानते हैं। मात्रा की दृष्टि से प्रवर शुद्धि में 4 प्रस्थ, मध्यम शुद्धि में 3 प्रस्थ तथा अवर शुद्धि में 2 प्रस्थ विरेचन होना चाहिए।[156]

विरेचन के उपरान्त मल पदार्थ एकत्र करके उसका माप करना चाहिए तथा उसकी भौतिक तथा रासायनिक परीक्षा करनी चाहिए।

उचित विरेचन की प्रक्रिया में सर्वप्रथम मल, तदुपरान्त पित्त एवं अन्त में, कफ का विसर्जन होता है। इसे ही 'कफान्त विरेचन' कहा जाता। दोष-निर्हरण के पूर्ण लक्षण[157] आ जाने पर भी विरेचन की प्रवृत्ति बन्द न हो तो मदनफल-वचा एवं सैन्धव चूर्ण देकर वमन कराकर विरेचन औषधि को निकाल देना चाहिए।

सम्यक् विरेचन के लक्षण :

स्रोतो विशुद्धि, इन्द्रिय प्रसादन, लघुता, अग्निवृद्धि, अनामयत्व, विट्पित्त कफ वात का क्रमशः निर्हरण, वातानुलोमन, अयोग लक्षणों का अभाव आदि सम्यक् विरेचन के लक्षण हैं।

विरेचन अयोग के लक्षण :

कफ प्रकोप, पित्त प्रकोप, वात प्रकोप, अग्निमांद्य, गौरव, प्रतिश्याम, तन्द्रा, छर्दि, अरूचि, वातप्रतिलोम, दाह, हृदय की अशुद्धि, कुक्षि अशुद्धि, कण्ड, विट्संग, मूत्रसंग, पिड़िका आदि अयोग्य विरेचन के लक्षण हैं।

विरेचन अतियोग के लक्षण :

कफ क्षय के विकार, पित्त क्षय के विकार, वात क्षय के विकार, सुप्ति अंगमर्द, क्लम, वेपथु, निद्रा, बलाभाव, तमः प्रवेश, उन्माद, हिक्का, मूर्च्छा, गुदभ्रंश, शूल, कफ पित्त रहित श्वेतोदक निस्सरण, कफ पित्त रहित लोहित उदक निस्सरण, मांसधावनवत् उदक स्राव, मेदो खंडवत् स्राव, तृष्णा, भ्रम, नेत्र प्रवेशनम्, अतिवमन व्यापद् की उत्पत्ति, रक्तक्षय के विकार आदि अतियोग विरेचन के लक्षण हैं।

विरेचन व्यापद :

वमन तथा विरेचन व्यापदों का शास्त्रों में एक साथ ही वर्णन मिलता है। व्यापद मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं अयोग तथा अतियोग। ये दोनों अनेक उपद्रवों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं वमन व विरेचन के निम्नलिखित 10 व्यापद् कहे गये हैं[158]-

1. आध्मान
2. परिकर्त
3. परिस्राव
4. हृदग्रह
5. ग्रात्रग्रह
6. जीवादान
7. विभ्रंश
8. स्तम्भ
9. उपद्रव
10. क्लम

पश्चात् कर्म : वमन विरेचन के पश्चात कर्म समान है। अन्तर केवल इतना है कि वमन के बाद धूम्रपान का ही विधान है परन्तु विरेचन के बाद धूम्रपान नहीं कराया जाता। शेष पश्चात् कर्म संसर्जनक्रम, तर्पण, शमनौषधि, परिहार्य विषय तथा अन्य विरेकोत्तर व्यवस्था वमन के समान ही है।

वस्तिकर्म :

पंचकर्म में वस्तिकर्म सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन कर्म मर्यादित है परन्तु वस्ति कर्म व्यापक है[159] यथा- (1) वस्ति अनेक औषधियों के संयोग के कारण तीनों दोषों का शमन करती है, (2) दोषों का संशमन करती है, (3) मलों की संग्राहक भी होती है, (4) क्षीण शुक्र व्यक्तियों में शुक्र वृद्धि भी करती है, (5) कृश व्यक्तियों का बृंहण करती है, (6) स्थूलो को कृश करती है, (7) नेत्रों की ज्योति बढ़ती है, (8) वयस्थापन करती है, (9) वर्ण प्रसादन करती है, (10) बल को बढ़ाती है, (11) आयुष्य एवं आरोग्यकर है, (12) बली–पलित आदि रोगों का नाश करती है।[160] वस्ति प्रत्येक मार्ग में गए हुए दोषों को बाहर निकालती है तथा शोधन कर्म के साथ-साथ शमन कर्म भी करती है। स्वेद, मूत्र, पुरीष, पित्त, कफ आदि के संहनन तथा संवहन का कार्य वायु ही करता है। इस प्रकार वायु के लिए श्रेष्ठ कर्म वस्ति ही है। इसलिए वस्ति को आधी चिकित्सा माना गया है और कुछ आचार्य वस्ति को संपूर्ण चिकित्सा मानते है।[161] वस्ति वात, पित्त, कफ एवं रक्त का तथा द्विदोषज व्याधियों में संसर्ग का एवं त्रिदोषज व्याधियों में तीनों दोषों का शमन शोधन करती है।[162]

वस्ति शब्द वस्तिकर्म में प्रयुक्त यन्त्र के नाम से प्रचलित है। वस्ति प्राणियों के मूत्राशय (Urinary Bladder)को कहते है और प्राणियों के मूत्राशय द्वारा निर्मित

यन्त्र द्वारा औषधियों को आभ्यान्तर प्रविष्ट कराना ही वस्तिकर्म है।[163] व्याकरण की दृष्टि से वाचस्पत्यम् में वस्ति शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की गयी है। 'वसु-निवासे वस्- आच्छादने वस्-वासने, सुरभिकरणें, वस्तिः- वस्तेः आवृणोति मूत्रं। बस-तिच्। नाभेरधो भागे मूत्राधार स्थाने (पु0)।। औषध दानार्थे द्रव्यभेदे'।। अर्थात् वस शब्द निवास के अर्थ में, आच्छादन करने के अर्थ में अथवा सुगंधकारकता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्ति शब्द वस् में तिच् प्रत्यय से बना है।

वस्ति के भेद :

(क) अधिष्ठान भेद से

1. पक्वाशय गत[164] (गुदा मार्ग द्वारा दी जाने वाली) वस्ति
2. गर्भाशय गत[165] (अपत्य पथ से दी गयी) वस्ति।
3. मूत्राशय गत[166] (मूत्र मार्ग से दी गयी) वस्ति।
4. व्रणगत[167] (व्रण मुख से दी गयी) वस्ति।

(ख) द्रव्य भेद से[168]

1. निरूह या आस्थापन वस्ति (क्वाथ प्रधान)
2. अनुवासन वस्ति
   (अ) स्नेह वस्ति (स्नेह प्रधान)
   (ब) मात्रा वस्ति
   (स) अनुवासन वस्ति

(ग) संख्या भेद से[169]-

1. कर्म वस्ति (12 निरूह + 18 अनुवासन = 30 वस्तियों का क्रम)
2. काल वस्तिं (6 निरूह + 10 अनुवासन = 16 वस्तियों का क्रम)

3. योग वस्ति (3 निरूह + 5 अनुवासन = 8 वस्तियों का क्रम)

(घ) कार्मुकता भेद से[170]

1. शोधन वस्ति - (अ) तीक्ष्ण (ब) मृदू
2. लेखन वस्ति
3. उत्क्लेशन वस्ति
4. शमन वस्ति
5. वृंहण वस्ति
6. कर्षण वस्ति
7. रसायन वस्ति
8. वाजीकरण वस्ति
9. स्नेहनीय वस्ति
10. चक्षुष्य वस्ति
11. संग्राही वस्ति
12. वर्ण प्रसादन वस्ति

(ङ) अनुषंगिक भेद

1. यापन वस्ति[171]
2. सिद्ध वस्ति[172]
3. प्रासृत योगिकी वस्ति[173]
4. द्वादश प्रसूतिकी वस्ति[174]
5. पादहीन वस्ति[175]
6. तीक्ष्ण वस्ति[176]
7. मृदु वस्ति[177]
8. पिच्छा वस्ति
9. रक्त वस्ति[178]

वस्ति कर्म में उपयोगी औषधियाँ :

· वस्ति कर्म हेतु आचार्यो ने द्रव्यों का भिन्न-भिन्न संदर्भो में उल्लेख किया है।

1. फलिनी औषधियाँ[179]- धामार्गव, इक्ष्वाकु, जीमूत, कृतवेधन, मदनफल, कुटज, त्रपुष, हस्तिपर्णिनी इत्यादि।
2. स्नेह द्रव्य[180]- घृत, तैल, वसा, मज्जा।
3. मूत्र वर्ग[181].
4. आस्थापन तथा अनुवासन गण[182]

5. आस्थापनोपग गण[183]

6. अनुवासनोपग गण[184]

7. षडास्थापन स्कन्ध[185] मधुर स्कंध, अम्ल स्कन्ध, लवण स्कन्ध, कटुक स्कन्ध, तिक्त स्कन्ध, कषाय स्कन्ध।

8. निरूह वर्ग[186]

वस्ति योग्यायोग्यों का विचार[187] :

(क) अनास्थाप्य :

आचार्य सुश्रुत ने भय, शोक, पाण्डु, भ्रम, मूर्च्छा, श्वास-कास, स्थौल्य आदि में अनुवासन व आस्थापन का निषेध किया है। महर्षि चरक द्वारा अतिकृश, बाल, वृद्ध, गर्भिणी तथा श्रम, तृष्णा आदि से पीड़ित पुरुषों में तथा अजीर्ण अल्पाग्नि, छिद्रोदर, बद्ध गुदोदर, प्लीहोदर, अलसक, विसूचिका, आम दोष, आमातिसार, प्रमेह, कुष्ठ तथा अर्श आदि रोगों में आस्थापन वस्ति का निषेध किया गया है।

(ख) आस्थाप्य :

एकांग रोग, सर्वांग रोग, वात-मूत्र-मल संग, शुक्रक्षय, उदावर्त्त, शुद्धातिसार, गुल्म, शूल, ब्रह्म, शिंर:शूल, हृदयशूल, आक्षेप, रज:क्षय, बाहुशूल, .तिमिर, अर्दित, पक्षाघात, मन्याग्रह, हनुग्रह आदि रोगों में आस्थापन वस्ति देने का उल्लेख चरक तथा सुश्रुत दोनों संहिताओं में मिलता है। आस्थापन निम्नलिखित वर्ग की अवस्थाओं में निर्दिष्ट है: (1) वात रोग या वात प्रधान रोग, (2) वात के आश्रय में रहने वाले रोग, (3) शोधनार्ह रोग, (4) मलशोधन के स्थानिक क्षेत्र के रोग।

(ग) अननुवास्य :

प्राय: सभी अनास्थाप्य अननुवास्य है। चरक संहिता में विशेषत: अभुक्त, भक्त, नवज्वर, पाण्डु, कामला, प्रमेह, अर्श, आरुचि, मन्दाग्नि, आदि रोगों में अनुवासन का निषेध किया गया है। सुश्रुत ने अनास्थाप्य के अतिरिक्त कामला, कफोदर, प्रमेह, कुष्ठ, स्थौल्य आदि में अनुवासन का निषेध किया है।

(घ) अनुवास्य :

सभी आस्थाप्य अनुवास्य भी है। विशेषत: रूक्ष, तीक्ष्णाग्नि युक्त, एवं वात व्याधि पीड़ित पुरुषों में यह हितकर है।

वस्ति यंत्र :

वस्ति यंत्र के दो मुख्य भाग होते हैं : (1) वस्ति नेत्र (2) वस्ति पुटक। वस्ति पुटक के साथ संलग्न नलिका को वस्ति नेत्र कहते हैं, जो धातुनिर्मित होती है। वस्ति नेत्र अन्दर से पोली एक लम्बी नलिका होती है जो मूल भाग में चौड़ी और अग्रभाग में पतली होती हैं इसकी लम्बाई, चौड़ाई, छिद्र आदि का विशेष प्रमाण शास्त्र में रोगी की आयु के अनुसार वर्णित है। नेत्रमान आतुर के हस्तागुंल मान से कहा गया है और इसका आकार गो पुच्छ के समान ऊपर मोटा तथा आगे की ओर पतला रखा जाता है।

सुश्रुत ने नेत्र के अभाव में नल, बाँस या अस्थि की नलिका के प्रयोग का वर्णन किया है।[188]

उत्तर वस्ति के नेत्र को पुष्पनेत्र भी कहा गया है, यह सोने या चाँदी का होना चाहिए। इसका छिद्र सर्षप के आकार का होना चाहिए। इसका स्वरूप मूत्र शलाका (Urinary Cathetar) के समान होना चाहिए। हृस्वता, दीर्घता, तनुता, स्थूलता, जीर्णता, शिथिल बन्धनता, पार्श्वच्छिद्र तथा वक्रता ये नेत्र दोष बताये गये है जिनसे नानाविधि उपद्रव संभावित है।[189]

वस्तिपुटक वस्तिद्रव्य का संग्रह स्थान है इसे वस्तिनेत्र को जोड़कर बाँध दिया जाता है। वस्तिपुटक एक संकोच-प्रसरण शील थैली का काम करता है। आज कल रबर या प्लास्टिक के पुटक का प्रयोग किया जाता है। विषम, मांसल, छिद्र युक्त, स्थूल, जाल युक्त, वातल स्निग्ध तथा क्लिन्नता, ये वस्तिपुटक दोष कहे गये है। वस्तुतः वस्ति स्वच्छ शुद्ध तथा अच्छी तरह कमाए हुए चर्म से बनी होनी चाहिए।

वस्तिकर्म विधि :

पूर्व कर्म में सर्वप्रथम दोष, औषध, देश काल, सात्म्य, सत्व, वय, बल आदि का विचार किया जाता है[190,191] सामान्यतः वमन के 15वें दिन विरेचन किया जाता है और विरेचन के सात दिन बाद निरूह। नवें दिन अनुवासन देकर उसी दिन सायंकाल या दूसरे दिन निरूह दिया जा सकता है।

वस्ति के वापस आने का काल 'प्रत्यागम काल' कहलाता है।[192] यह काल निरूह वस्ति में एक मुहूर्त अर्थात् 48 मिनट का होता है। इतने समय में वापस न आने से नानाविध कष्टदायक उपद्रव होते हैं। यदि वस्ति वापस न आए तो निम्नलिखित उपचार करना चाहिए।[193]

1. यवक्षार, गोमूत्र, अम्ल, द्रव्य तथा तीक्ष्ण, उष्ण औषधि जैसे त्रिकटु इत्यादि से संयुक्त दूसरी वस्ति शीघ्र देनी चाहिए।
2. फलवर्ति प्रयोग करके मलों का प्रत्यावर्तन कराना चाहिए।
3. श्रोणी, स्फिक्, वंक्षण तथा पक्वाशय प्रदेश पर स्वेदकर्म करना चाहिए।
4. नानाविध भय दिखाकर रोगी को भयभीत करने से भी अतिसार की प्रवृत्ति हो जाती है और वस्ति बाहर आ जाती है।
5. त्रिवृत् चूर्ण, त्रिफला या एरण्ड स्नेहादि प्रयोग द्वारा विरेचन कराना चाहिए।

सम्यक् योग के लक्षण :

पक्वाशय दोषों को स्निग्ध करके सम्पूर्ण मल को सुखपूर्वक निकालने वाली वस्ति को सम्यक् युक्त समझना चाहिए। इससे निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं-

प्रसृष्ट विट्कता, प्रसृष्ट मूत्रता, प्रसृष्ट वातता, क्रमशः मल, पित्त, कफ और वायु का विर्सजन, शरीर में लघुता की अनुभूति, भोजन में रूचि, अग्नि में तीक्ष्णता, पक्वाशय, मलाशय आदि में लघुता, रोगोपशमन, प्रकृतिस्थता, एवं बलवृद्धि इत्यादि।

अयोग के लक्षण[195] :

रूजा, शोथ, प्रतिश्याय, परिकर्तिका, हृल्लाास, वातसंग, मूत्रसंग, श्वास कृच्छ, वेगाल्पता, अरूचि, एवं अंग गौरव आदि यहाँ पर प्रत्यागमार्थ चिकित्सा करनी चाहिए।

अतियोग के लक्षण[196]:

विरेचन के अतियोग के जो लक्षण बताये गये हैं वे ही निरूहातियोग से भी होते है। यहाँ पर ग्राही, दीपन, पाचनादि चिकित्सा करनी चाहिए।

पश्चात् कर्म :

वस्ति प्रणिधान के उपरान्त वस्ति प्रत्यागम तथा आतुर के आहार आदि की व्यवस्था तथा वस्ति व्यापद् का प्रतिकार- ये वस्ति के पश्चातकर्म के अंग है। रोगी व रोग के अवस्थानुसार वस्तियों की संख्या की गणना करके उतनी ही वस्तियाँ देनी चाहिए। इसके पश्चात् ससंर्जन क्रम आवश्यक नहीं है तथापि अग्नि का विचार करके पथ्य व्यवस्था करनी चाहिए। जितने दिन तक वस्तियाँ दी जाती है उससे दुगुने दिन आगे पथ्य एवं परिहार-काल मानना चाहिए।[197]

नस्यकर्म :

औषधि या औषध सिद्ध स्नेहों[198] को नासा मार्ग से दिया जाना ही नस्य कर्म है। भाव प्रकाश ने नासाग्राह्य औषध को नस्य कहा है। नस् धातु गत्यथर्क है तथा व्याप्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। नस्-नासिकायांनासिका के अर्थ में आता है, और नस्य का अर्थ है- जो नासिका के लिए हितकर हो। नस् धातु के संज्ञावाचन शब्द 'नस्त:' का अर्थ है नस्य कर्म। नासा को शिर का द्वार माना गया है।[199] अत: नासा द्वार से प्रविष्ट नस्यौषधि सम्पूर्ण शिर में व्याप्त होकर तद्गत विकारों को दूर करती है। इसीलिए उर्ध्वजत्रुगत रोगों के लिए नस्य कर्म की विशेष उपयोगिता है।[200] शिरोविरेचन, शिरोविरेक, मूर्ध विरेचन आदि भी नस्य शब्द के ही पर्यायवाची है। सुश्रुत ने शिरोविरेचन शब्द का प्रयोग नस्य के विशिष्ट भेद के लिए किया है। चरक संहिता में 'नस्त: प्रच्छर्दन' शब्द का तात्पर्य नस्य द्वारा दिया जाने वाला शोधन कर्म है। चक्रपांणि ने नस्त: प्रच्छर्दन को शिरोविरेचन का पर्याय माना है।

नस्य कर्म में प्रयुक्त द्रव्य :

(क) चरकोक्त : अपामार्ग, पिप्पली, मरिच, विडंग, शिग्रु, सर्षप, तुंतुरू, अजाजी, अजमोद, पीलु, हरेणुका, पृश्नीका, तुलसी, श्वेतापराजिता, कुठेरक, शिरीष बीज, लशुन, हरिद्रा, दारू-हरिद्रा, सौवर्चल, सैन्धव, ज्योतिष्मती, शुण्ठी, गंडीर, शल्लकी, तेजोवती, इंगुदी, त्वक्, वार्ताकी, एला, सुमुख, गंडीरक, कालमालक, श्रृंगवेर, मूलक, तर्कारी, अर्क, कुष्ठ, नागदंती, वचा, भार्गी, इन्द्रायण, अवाक्पुष्पी, वृश्चिकाली, ब्राह्मी, अतिविषा, लोध्र, मदनफल, सप्तपर्ण, निम्ब, देवदारू, अगरू, सरल, हिंगु, गुडूची, वृहती, क्षवक।[201]

(ख) सुश्रुतोक्त : पिप्पली, विडंग, अपामार्ग, शिग्रु, सर्षप, शिरीष, मरिच, कनेर, बिंबी, श्वेतापराजिता, कटभी, वचा, ज्योतिष्मती, करंज, अर्क, अलर्क, लशुन, अतीस, शुष्ठी, तालीस पत्र, तमालपत्र, सुरसा, अर्जक, इंगुदी, मेषश्रृंगी, मातुलुंगी, मुरंगी, पीलु, जाती, साल, ताल, मधुक, लाक्षा, हिंगु, लवण, मद्य, गोमय, गोमूत्र।[202]

(ग) वाग्भटोक्त : विडंग, अपामार्ग, त्रिकटु, दारू, हरिद्रा, राल, शिरस, वृहती, शिग्रु, मधूकसार, सैन्धव, तार्क्ष्य शैल (रसौत), एला, वृहद् एला, हिंगुपत्री[203]

नस्य के भेद :

(क)[204]	1. नावन नस्य -	(अ) स्नेहन	कार्मुकता के आधार पर -
		(ब) शोधन	1. रेचन
	2. अवपीड नस्य -	(अ) शोधन	2. तर्पण
		(ब) स्तम्भन	3. शमन
	3. ध्मापन नस्य.		

4. धूम्र नस्य - (अ) प्रायोगिक
(ब) बैरेचनिक
(स) स्नैहिक

5. प्रतिमर्श नस्य - (अ) स्नेहन
(ब) विरेचन

(ख)[205] 1. शिरोविरेचन-
2. स्नेहन

1. नस्य
2. शिरोविरेचन
3. प्रतिमर्श
4. अवपीड
5. प्रधमन

(ग)[206] 1. विरेचन नस्य
2. वृंहण नस्य
3. शमन नस्य

(घ)[207] 1. वृंहण नस्य
2. कर्षण

1. पूरण

(ड.)[208] 1. रेचन- कर्षण
2. स्नेहन- वृंहण

(च)[209] 1. प्रायोगिक
2. स्नैहिक

(छ)[210] 1. संज्ञा प्रबोधक
2. स्तम्भक

(ज) आश्रय भेद से अर्थात् नस्यार्थ द्रव्य के विविध अंगों के प्रयोग के अनुसार नस्य सात प्रकार का कहा गया है।[111]

1. फल नस्य, 2. पत्र नस्य, 3. मूल नस्य, 4. कन्द नस्य, 5. पुष्प नस्य, 6. निर्यास नस्य, 7. त्वक् नस्य

नस्य के लिए अयोग्य (अनस्यार्ह)[212]:

भुक्तभक्त, अजीर्ण, पीतस्नेह, पीतमद्य, पीततोय, स्नेहादिपातुकाम, स्नात शिरः, स्नातुकाम, क्षुधार्त, श्रमार्त, मत्त मूर्च्छित, शस्त्रदण्डहत, क्लान्त, नवज्वर, पीडित, शोकाकुल, विरिक्त, अनुवासित गर्भिणी, नवप्रतिश्यायार्त, अपतर्पित, पीतद्रवः, तृष्णार्त, गरार्त, क्रुद्ध, बाल, वृद्ध, वेगावरोधित, रक्तस्रावित, सूतिका, श्वास पीड़ित, कास पीड़ित। इसके अतिरिक्त प्रतिकूल ऋतु तथा दुर्दिन में किसी को भी नस्य नहीं देना चाहिए।

नस्य के योग्य (नस्यार्ह)[213]:

उपरोक्त अनस्यार्हों के अतिरिक्त सबमें नस्य देना हितकर है। निम्नलिखित विशेष रूप से नस्य योग्य हैं- शिरस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, दन्तशूल, हनुग्रह, पीनस, गलशुण्डिका, गलशालूक, तिमिर, वर्त्म रोग, व्यंग, उपजिहिका, अर्द्धावभेदक, ग्रीवा रोग, स्कंध रोग, शूल, मुख रोग, कर्णशूल, नाशाशूल, अक्षिशूल, शिरःशूल, अर्दित, अपतंत्रक, अपतानक, गलगण्ड, दन्तशूल, दन्तहर्ष, दन्तचाल, राजी-नेत्ररोग, अर्वुद, स्वर भेद, वाग्ग्रह, गदगदत्व, उर्ध्वजत्रुगत रोग।

नस्यकर्म विधि :

नस्य कर्म हेतु एक स्वतंत्र कक्ष 'नस्य भवन' होना चाहिए जिसमें प्रत्यक्ष वायु का वेग से प्रवेश न हो परन्तु भरपूर प्रकाश हो।[214] इस कक्ष में नस्य कर्म के लिए आरामदायक शय्या की व्यवस्था करनी चाहिए। इसमें नस्य यंत्र, ष्ठीवन पात्र, वस्त्र खण्ड तथा नस्य औषधियों तथा नस्य व्यापत् के प्रतिकार के लिए

आवश्यक सामग्री की व्यवस्था होनी चाहिए। नस्य कर्म से पूर्व ऋतु विचार (प्रावृट्, शरद, बसन्त ऋतुएं नस्य के लिए उत्तम है), रोगी- रोग के बलाबल का विचार आदि आवश्यक है। नस्य के पूर्व विधिवतं स्नेहपान तथा धूम्रपान करना चाहिए। साथ-साथ शिर, मुख, नासा, मन्या, ग्रीवा, तथा कण्ठ पर तापस्वेद भी हितावह है।

नस्य औषधि गले में आने पर उसे निगलना नहीं चाहिए। रोगी की परिचर्या तथा वैद्य द्वारा निरीक्षण नस्य के समय अत्यन्त आवश्यक है। नस्य देने के पश्चात सम्यक् योग, अतियोग, हीनयोग के लक्षणों का निरीक्षण करना चाहिए तथा हीनयोग एवं अतियोग की यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए। हीनयोग होने पर पुनः सम्यक् नस्य देना चाहिए। अतियोग होने पर रूक्षण तथा वातघ्न चिकित्सा लक्षणानुसार करनी चाहिए।

नस्य मात्रा :

नस्य प्रकार	ह्रस्वमात्रा	मध्यममात्रा	उत्तम मात्रा
शमन स्नेह	16 विन्दु	32 विन्दु	64 विन्दु
शोधन स्नेह	8 ,,	12 ,,	16 ,,
मर्शनस्य	6 ,,	8 ,,	10 ,,
प्रतिमर्श नस्य	2 ,,	2 ,,	2 ,,
कल्कनस्य	4 ,,	6 ,,	8 ,,

पश्चात् कर्म में नस्यकर्मोपरान्त तत्काल रोगी को उष्ण जल से मुखप्रक्षालन, गण्डूष एवं कवलग्रहं कराना चाहिए। तत्पश्चात् कफशोधनार्थ धूम्रपान करना चाहिए। चरक संहिता में तीन प्रकार के धूम्रपान बताए गये हैं- (1) प्रायोगिक (शमन), (2) वैरेचनिक, (3) स्नेहिक। नस्यकर्मोपरान्त प्रायोगिक धूम्रपान का प्रयोग आवश्यक है।

तत्पश्चात् कवल या गण्डूष (क्षारयुक्त जल का गण्डूष) धारण आवश्यकतानुसार करना चाहिए। नस्यकर्म के बाद क्रोध, मद्यपान तथा तत्सम कार्यो का निषेध है।

नस्य में योगायोग विचार[215,216]:

(1) सम्यक् शिरोविरेचन के लक्षण :

शरीर में लघुता, सुख स्वप्न, रोग प्रशमन, इन्द्रिय तथा मन की प्रसन्नता, शिर में हल्कापन, तथा स्रोतो शुद्धि। सम्यक् शुद्धि के बाद पित्त प्रकृति में घी का तथा वातप्रकृति में तैल नस्य देना चाहिए।

(2) असम्यक् शिरोविरेचन के लक्षण :

वात विकृति, इन्द्रिय-रौक्ष्य, रोग का अपशम, कण्डू अंग गौरव, नासा-नेत्र-मुख में कफ तथा लाला स्राव।

(3) अतियोग के लक्षण :

स्नेहन नस्य के अतियोग से कफस्राव, शिरोगौरव, इन्द्रिय विभ्रम आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और इसमें रूक्षण चिकित्सा करनी चाहिए। शोधन नस्य के अतियोग में मस्तुलुंग का बाहर आना, वात-प्रकोप, इन्द्रिय-विभ्रम, शिरःशून्यता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में कफ वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिए।

रक्त-मोक्षण :

कायचिकित्सा की दृष्टि से वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूहण एवं शिरोविरेचन ही पंचकर्म है। शल्यतंत्र की दृष्टि से रक्त मोक्षण द्वारा भी अन्य दोषों का निर्हरण करते हैं। दूषित रक्त को शरीर से बाहर निकाल देना ही इस कर्म का उद्देश्य है। सुश्रुत ने रक्त को चौथा दोष माना है। त्रिदोषों के अतिरिक्त आमदोष का जो

महत्व कायचिकित्सा में है वहीं महत्व रक्त का शल्यशास्त्र में है। जहाँ पंचकर्म के अन्य कर्म दोषों का निर्हरण करते है वहाँ रक्त-मोक्षण दोष के साथ-साथ धातु का भी निर्हरण करता है। शल्य तंत्र में अधिकांश रोग रक्त सम्बन्धित हैं, इसलिए उनकी चिकित्सा में रक्त-मोक्षण का विशेष महत्व है। आचार्य चरक ने रक्त को बल, वर्ण, सुख, भाग्य आदि का हेतु कहा है।[217] 'रक्त जीव इह स्थिति:' सिद्धान्त के अनुसार रक्त में विकृति आने से जीव में विकृति आती है और अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। आचार्य सुश्रुत[218] ने कहा है कि जो व्याधियाँ स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन एवं वस्ति से सिद्ध न हो पायी हो, प्रलेप, प्रदेह, उपनाह आदि वहि:परिमार्जन कर्म भी जहाँ कार्यकर न हो पाये हों, वहाँ पर सम्यक् विस्त्रावण द्वारा अभीष्ट सिद्ध किया जाता है।

आचार्य चरक के अनुसार रक्त के शुद्ध होने पर सभी इन्द्रियाँ प्रसन्न होकर अपने-अपने अर्थो को ग्रहण करती है। व्यक्ति अपने इच्छित विषयों को अल्प प्रयत्न से प्राप्त करता है, अग्नि का बल बढ़ता है और पुष्टि, तुष्टि बल, सुरत आदि को प्राप्त करता है।[219] जिस प्रकार कायचिकित्सा में वस्ति कर्म आधी चिकित्सा है और उसी प्रकार शल्य तंत्र में रक्तमोक्षण भी अर्द्धचिकित्सा है।[220]

रक्त-मोक्षण कर्म की उपयोगिता का वर्णन सुश्रुत, चरक एवं वागभट्ट ने किया है। इस कर्म के लिए शास्त्रों में शोणितमोक्षण, अस्र विश्रुति, रक्तनिर्हरण, रक्तस्रावण, रक्तहरण आदि शब्द पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

रक्त-मोक्षण के योग्य काल :

रक्त एवं पित्त के प्रकोप का काल शरद ऋतु है। इसके लिए अतिशीत, अतिउष्ण, वायु, दुर्दिन, अप्रशस्त काल है। वर्षा ऋतु में जब बादल न हो, ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल, हेमन्त ऋतु में मध्याह्न काल में रक्तमोक्षण करना चाहिए।[221]

रक्त मोक्षण के लिए अयोग्य :

1. सर्वांगशोथ युक्त रोगी, 2. रोग की जीर्णावस्था के कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गया हो, 3. अम्ल के अधिक सेवन से जिसका शरीर अत्यन्त पाण्डु युक्त हो, 4. अर्श रोग में, 5. उदर रोग में, 6. शोष रोग में, 7. गर्भिणी में, 8. बालक में, 9. वृद्ध में, 10. रक्त क्षीण में, 11. भीरू में, 12. परिश्रान्त में, 13. मद्यपिये हुए में, 14. पंचकर्म करने के तुरन्त बाद, 15. कास श्वास एवं ज्वर के रोगी में, 16. आक्षेपक रोग में, 17. पक्षाघात में तथा 18. मूर्च्छा रोगी में सिरावेध न करें।

रक्त मोक्षण के प्रकार :

रक्तमोक्षण दो प्रकार से किया जाता है-

1. शस्त्र द्वारा रक्त विस्रावण
2. शस्त्र रहित विस्रावण (अनुशस्त्र विस्रावण)

शस्त्र विस्रावण दो प्रकार का होता है - 1. प्रच्छान, 2. सिरावेध

अनुशस्त्र विस्रावण चार प्रकार से किया जाता है यथा-

1. श्रृंगावचारण - वात दृष्टि में
2. जलौका अवचारण - पित्त दुष्टि में

3. अलाबू अवचारण - कफ दुष्टि में
4. घटी यन्त्र - कफ एवं वात दुष्ट रक्त निर्हरणार्थ।

इनका प्रयोग पुनः-

1. दोष की अवस्था के अनुसार
2. रक्त की अवस्था के अनुसार
3. आतुर की अवस्था के अनुसार किया जाता है।[222]

रक्त निर्हरण का प्रमाण :

बलवान पुरुष में जो तरूण हो, दोष विपुल हो तो रक्त एक प्रस्थ निकालना चाहिए।[223] दूषित रक्त का स्राव पूर्णतया नहीं करना चाहिए। शेष रक्त की चिकित्सा संशमन विधि से करनी चाहिए।[224] इसके लिए यह देखना आवश्यक है कि बहता हुआ रक्त किस मात्रा में अशुद्ध है।

सम्यग् रक्त विश्रुति के लक्षण :

रक्त धार के साथ बह कर स्वयं रूक गया हो, रोगी लघुता एवं रोग मुक्ति का अनुभव करता हो, दोष अपने मार्ग में चलने लगे हों, मन का प्रसादन हो गया हो तो सम्यग् शुद्धि समझना चाहिए।[225]

दुष्ट वेध :

आचार्य सुश्रुत ने 20 प्रकार के दुष्ट वेध बताए हैं- 1. दुर्विद्ध, 2. अतिविद्ध, 3. कुंचित विद्ध, 4. पिच्चित विद्ध, 5. कुण्ठित विद्ध, 6. अपस्रु, 7. अत्युदीर्ण, 8. अन्तेविद्ध, 9. परिशुष्क, 10. कुणित, 11. वेपित, 12. अनुत्थित विद्ध, 13. शस्रहत, 14. तिर्यक् विद्ध, 15. अपविद्ध, 16. अव्यध्य, 17. विद्रुत, 18. धेनुक, 12. पुनर्विद्ध, 20. मर्मविद्ध। इसके अन्तर्गत अतिविद्ध एवं हीनविद्धों का वर्णन किया गया है।

संशोधन का महत्व :

अजीर्ण, अरूचि, स्थौल्य, पाण्डुता, गौरव, क्लम, पिड़िका, कोठ, कण्डू, अरति, आलस्य. श्रम. दौर्बल्य. दौर्गन्ध्य (मुख. मल. मूत्र. त्वचा आदि में) मनो अवसाद. श्लेष्मा तथा पित्त का उत्क्लेश, तंद्रा, क्लैव्य, बुद्धिमांद्य, दुस्टस्वप्न का आना तथा बृहंण के लक्षण हैं। इनमें दोष के प्रभाव एवं व्यक्ति का बल देखकर उर्ध्व तथा अध: संशोधन (वमन-विरेचन) देना हितकर है। उर्ध्वाध: संशोधन की फलश्रुति बतलाते हुए आचार्य कहते है कि उर्ध्वाध: संशोधन द्वारा कोष्ठ की शुद्धि हो जाने से उसमें संचित प्रत्येक दोष का निर्हरण होने के कारण उनका आवरण जाठराग्नि पर नहीं रहता, परिणामस्वरूप स्वास्थ्य लाभ होता है। व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि निर्मल हो जाते हैं, वर्ण सुधरता है, तथा वह मनुष्य बल, पुष्टि, वृपता तथा सन्तान को प्राप्त करता है तथा निरोग रहकर दीर्घायु लाभ करता है संशोधन का सेवन करना परमावश्यक है। योगशास्त्र में भी शरीर शुद्ध क्रिया का वर्णन प्राप्त होता है। जिस प्रकार त्रिदोष का निर्हरण करने हेतु आयुर्वेद में पंचकर्म का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार हठयोग में षटक्रिया का वर्णन है-[226]

ह0सं0

पंचकर्म ↓	षट्क्रिया ↓	प्रमुख दोष पर कार्य	मुख्य स्थान शुद्धि
वमन	धौति	कफ	आमाश
विरेचन	नौलि	पित्त	पच्यमानाशय
वस्ति	वस्ति	वात	पक्वाशय
नस्य	नेति	कफ-वात	उर्ध्वजत्रु
रक्तमोक्ष	त्राटक	रक्त-पित्त	शाखा
	[illegible]	रजस् (मानसिक दोष)	मन

आयुर्वेदोपदिष्ट योग एवं योगदर्शन के सिद्धान्त- एक समालोचनात्मक परिदृश्य

आयुर्वेद समग्र ज्ञान की वह धारा है जिसकी सहायता से जीवन के चारो लक्ष्य- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।[227] इसी प्रकार आयुर्वेद के समानान्तर योग भी मनुष्य को उक्त उद्देश्य तक पहुँचने में सहायक रहा है। योग का प्राथमिक उद्देश्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति की पूर्णता के लिए नहीं था, अपितु इसका विकास मोक्ष-प्राप्ति के लिए किया गया था।[228] आयुर्वेद पूर्णरूप से जीवन का विज्ञान है, जबकि योग जीवन-विज्ञान का एक विशिष्ट अंग है, जो विशेषरूप से पुरुष के आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित है।

प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुसार शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व एवं आत्मा का संयोग ही आयु है। आयुर्वेद में शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अस्तित्व का वर्णन किया गया है। तीनों प्रकार के कष्टों आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक से छुटकारा पाने के लिए आरोग्य आवश्यक है। इसी आरोग्यके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है[229], जबकि योग विशेषरूप से जीवन के मनो-आध्यात्मिक भावों पर विचार करता है और इसी के द्वारा मोक्ष का प्रवर्तक है।

योग और आयुर्वेद दोनों में औषधि, मंत्र, जप और समाधि आदि पर मुख्य रूप से बल दिया गया है।[230] आयुर्वेद में आठ अंगों का वर्णन किया गया है।[231] पातञ्जलयोगसूत्र में भी योग के आठ अंगों का वर्णन है।[232] आध्यात्मिक मार्ग में चित्त की शुद्धि के लिए योग में भी औषधियों की उपयोगिता बतलाई गई है, जो

कि औषधि-अन्न एवं विहार के रूप में है। आयुर्वेद में भी योगाभ्यास का वर्णन किया गया है।[233] इस प्रकार दोनों में मूलभूत समानताएँ हैं।

योगसूत्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों को बन्धन का कारण बतलाया गया है। इनसे मन में कालुष्य आता है।[234] इसका निवारण चित्तशुद्धि है। आयुर्वेदज्ञ महर्षियों ने भी इस विषय का सम्यक् निरूपण इसी रूप में किया है।[235]

आयुर्वेद और योग के न केवल विषय और उद्देश्य एक समान हैं, अपितु इनकी शिक्षण-पद्धति व गुरूपदेश-परम्परा भी एक समान है। आयुर्वेद के लिए कहा गया है कि- ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण करके दक्षप्रजापति को उसका उपदेश किया, दक्षप्रजापति से अश्विनीकुमार तथा इनसे इन्द्र ने विद्या ग्रहण किया और प्रथम मानव ऋषि भारद्वाज ने इन्द्र से शिक्षा ली।[236] गीता के अनुसार नारायण (विष्णु) ने योग की शिक्षा वैवश्वा, मनु, इक्ष्वाकु को प्रदान की तथा इक्ष्वाकु से अन्य राजर्षियों ने ग्रहण किया। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने योग की शिक्षा अर्जुन को दी।

आयुर्वेद में वैद्य की चार वृत्तियाँ बतलाई गई है।[237] इसे ही योगसूत्र में मैत्री, करूणा, मुदिता तथा उपेक्षा के रूप में चित्त-प्रसादन के लिए बतलाया गया है।[238]

मैत्री का अर्थ होता है- प्राणिमात्र के साथ मित्रता का व्यवहार करना। योगसूत्र में मैत्री आदि से बल मिलता है।[239] तथा इसे संयम के लिए सहायक बतलाया गया है। आयुर्वेद में रोगी के रोग को दूर करने के लिए जीवमात्र एवं औषधि से मित्रता करने के लिए कहा गया है।

करुणा का तात्पर्य भाव, दया एवं आर्द्रता से है। आयुर्वेद में इसकी व्याख्या 'आर्तेषु कारुण्यम्' इस प्रकार करते हैं।

मुदिता के स्थान पर आचार्य चरक ने 'शक्ये प्रीति' कहा है। योग के प्रसन्नता के भाव को साध्य रोगों की प्रेमपूर्वक एवं प्रसन्नतापूर्वक चिकित्सा करने के रूप में कहा गया है।

उपेक्षा अर्थात् त्याग को चिकित्साशास्त्र में असाध्य रोगों की उपेक्षा के रूप में लिया गया है, जबकि योग में राग, द्वेष, घृणा एवं क्रोध के नाश के लिए प्राणियों में उपेक्षा की भावना से लिया गया है।

इस प्रकार योगसूत्र के चित्तप्रसादन के विषयों को आयुर्वेद में वैद्य की वृत्ति के रूप में कहा गया है।

योग के आठ अंग, यथा- यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि वर्णित है।[240] आयुर्वेद में इनका दूसरे शब्दों में, यथा- सद्वृत्त, आचार-रसायन, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या धारणीय-अधारणीय वेग, वाजीकरण, पंचकर्म आदि के अन्तर्गत अभिनिवेश किया गया है।

योगसूत्र में यम के पाँच विभाग किये गये हैं[241]- अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, आस्तेय और अपरिग्रह।

अहिंसा :

मन, वाणी और शरीर से किसी प्राणी को किसी प्रकार का दुःख न देना अहिंसा है हिंसा तम का द्योतक है। यह अभिघात और प्रतिरोध को उत्पन्न करने

वाला होता है। आयुर्वेद में उसे पापकर्म बतलाकर त्यागने के लिए कहा गया है।[242] हिंसा का त्याग ही अहिंसा है।

इसे सद्वृत्त के रूप में वर्णित किया गया है तथा रसायन-सेवन से पूर्व भी एवं आचार रसायन के अन्तर्गत अहिंसा का वर्णन किया गया है।[243]

सत्य :

योगसूत्र में कहा गया है कि सत्य पर दृढ़ होने से व्यक्ति में क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है। आयुर्वेद में भी आचार-रसायन में सर्वप्रथम 'सत्यवादिनम्' ही कहा गया है।[245] सद्वृत्त में भी झूठ न बोलने के लिए कहा गया है।[246]

अस्तेय :

अस्तेय का अर्थ है- चोरी न करने का संकल्प। जब व्यक्ति में चोरी न करने के संकल्प की दृढ़ निष्ठा जागृत हो जाती है, तब उसके सामने समस्त रत्न स्वयं प्रकट होने लगते हैं।[247] आचार्य वाग्भट ने स्तेय को दशविध पापकर्म के अन्तर्गत बतलाया है और उसे शरीर, मन एवं वाणी से त्यागने के लिए कहा गया है।

ब्रह्मचर्य :

जीवन के तीन 'उपस्तम्भों' में ब्रह्मचर्य की गणना की गयी है।[248] 'आचार-रसायन' में मद्य एवं मैथुन से निवृत्त रहने के लिए बतलाया गया है। ज्वरचिकित्सा में आचार्य चरक ने कहा है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ज्वर से छुटकारा

मिलता है।[249] योगसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य पर दृढ़ होने पर वीर्य-लाभ एवं अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव होता हे।[250]

अपरिग्रह :

परिग्रह का अर्थ है मोह (प्रवृत्ति) उसके विपरीत अपरिग्रह (निवृत्ति) की स्थिति उत्पन्न होने पर वैराग्य की उत्पत्ति हेती है; और इससे पूर्वजन्म कैसे हुआ, इसका भी ज्ञान हो जाता है।[251] सद्वृत्त-प्रकरण में दान हेतु मोह का त्याग करने के लिए कहा गया है।

इस प्रकार यम के पाँचों भाग जो कि योगसूत्र में वर्णित है, इनका वर्णन उसी रूप में यम के लिए आयुर्वेदीय सद्वृत्त एवं आचार-रसायन प्रकरण में किया गया है।

नियम :

योगियों ने नियम के भी पाँच विभाग बतलाये हैं।

शौच :

उत्तम वैद्य के चार गुणों में शौच एक प्रधान गुण है।[252] शौच का अभिप्राय कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुद्धता से है। इन्हें ही योगी बाह्य शुद्धि एवं आभ्यन्तर शुद्धि के नाम से ग्रहण करते हैं। आयुर्वेद में बाह्य शुद्धि के लिए अंग-प्रच्छालन, स्नान, दन्तधावन, कवलग्रह, गण्डूष आदि कर्म बतलाये गये हैं और आभ्यनतर शुद्धि सामाजिक एवं मानसिक स्तर, धी-धृति-स्मृति का ज्ञान एवं व्यवहार आदि से लेते हैं।

संतोष :

लौल्य को कष्ट उत्पन्न करने वालों में श्रेष्ठ कहा गया है।[253] यह सन्तोष का विपरीतार्थक है। उसे धारणीय वेगों की गणना में भी गिना गया है। योगसूत्र में संतोष को सर्वोत्तम सुख की संज्ञा दी गयी है।[254]

तप :

स्वधर्म-पालन के लिए व्रत-उपवास आदि कठिन कार्य करना तप है, उसके अभ्यास से शरीर, इन्द्रिय एवं मन का मल नष्ट होता है।[255] आचार-रसायन के अन्तर्गत कहा गया है कि प्रतिदिन जप, शौच, दान एवं तपस्या करनी चाहिए[256] तथा देवता, गो, ब्राह्मण, आचार्य एवं गुरु की सेवा में रत रहना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने भी तीन बार गायत्री का जप करने के लिए कहा है।[257]

स्वाध्याय :

स्वाध्याय दिनचर्या का एक अंग है। प्रातःकाल उठकर दोपहर में एवं रात्रि में स्वाध्याय करने के लिए कहा गया है। योगसूत्र में कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्टदेव का दर्शन होता है।[258]

ईश्वरप्रणिधान :

ईश्वर की शरणागति से योगसाधन में आने वाले विघ्नों का नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है।[259] आयुर्वेद में मानस दोष-चिकित्सा के रूप में ईश्वर का ध्यान पूजा-पाठ बतलाया गया है। ज्वर आदि की चिकित्सा में भी विष्णुसहस्रनाम का जप आदि बतलाया गया है।[260] दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा का आधार ही ईश्वरप्रणिधान है।[261]

आसन :

आसन से आजकल सामान्यतया योग का अर्थ ग्रहण करते हैं, परन्तु यह योग के आठ अंगों में से एक अंग ही समझना चाहिए। फिर भी हठयोग का सम्पूर्ण आधार आसन ही है। स्थिर-सुखपूर्वक बैठने को योगियों के शब्दों में आसन कहा गया है।[262] आयुर्वेद में हठयोग में वर्णित आसनों का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु यहाँ स्थिर-सुखपूर्वक बैठने की अनेक अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम अध्ययन-विधि में कहा गया है कि समतल पवित्र स्थान में सुखपूर्वक बैठकर अपने दोष एवं त्रुटियों को दूर करने हेतु तथा दूसरे के दोष एवं त्रुटि को समझने के लिए एकाग्र मन से बैठना चाहिए।[263] सद्वृत्त के पालन में कुछ ऐसी शरीर की अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, जिनमें अधिक देर तक न बैठने के लिए कहा गया है। जैसे घुटनों को ऊपर उठाकर देर तक न बैठे।[264] शरीर को टेढ़ा करके छींक, भोजन, शयन आदि न करने के लिए भी कहा गया है।[265]

इस प्रकार आसनों का वर्णन आयुर्वेद में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में है, परन्तु हठयोग सम्बन्धित आसन का वर्णन नहीं मिलता। चरकसंहिता में वमन-विरेचन प्रकरण में 'जानुसमं......सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्' ऐसा उल्लेख मिलता है।

प्राणायाम :

प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनों गतियों का विच्छेद होना अर्थात् श्वास-प्रश्वास क्रिया का बन्द होना प्राणायाम का सामान्य लक्षण है।[266] आयुर्वेद में वायु को प्राणसंज्ञा प्रदान की गई है।

वायु को आयु कहा गया है तथा वायु के द्वारा ही प्राणायाम निमेषादि क्रियाएँ सम्पन्न होती है।[267] वायु प्राणायाम-क्रिया का सम्पादन कराता है, परन्तु योगोक्त प्राणायाम इस वायु की क्रिया से भिन्न है, वहाँ इस वायु की क्रिया पर नियंत्रण करना प्राणायाम कहा गया है।

वैसे आयुर्वेद में वायु को यन्त्र-तन्त्र को धारण करने वाला कहा गया है- 'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः'। इसे प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान का आत्मा के रूप में कहा गया है तथा यह शरीर की सभी चेष्टाओं का नियंत्रण एवं प्रणयन करता है। यह सभी इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त कराने वाला है।[268]

इस प्रकार वायु को शरीर एवं शरीरावयव को धारण करने वाला, चेष्टा गति आदि का नियंत्रण एवं प्रणयन करने वाला कहा गया है और इसी वायु की गति पर नियंत्रण होना प्राणायाम शब्द से जाना जाता है। आयुर्वेद में वायु के नियमन से दोष साम्य और इसके परिणामस्वरूप शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की कल्पना की गयी है जो योग साधन का एक आवश्यक अंग है।

प्रत्याहार :

इन्द्रियों को बाह्य वृत्ति से समेट कर मन में विलीन करने के अभ्यास को प्रत्याहार कहते है।[269] आयुर्वेद में मन का कर्म बतलाते समय कहा गया है कि इन्द्रियों का संचालन करना तथा स्वयं अपने को अपने से ही आहृत विषयों से रोकना मन के कर्म है।[270] इसके साथ ही मन तथा इन्द्रियों को स्वस्थ रखने के लिए कहा गया है कि मन के साथ सभी इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहें और इनमें कोई विकृति न हो। सात्म्येन्द्रियार्थसंयोग द्वारा बुद्धि से ठीक-ठीक विचार

कर कार्यों को उचित रूप में करना, देश-काल व आत्मा के विपरीत गुणों का सेवन करना[271] तथा इन्द्रियार्थों का अतियोग, मिथ्यायोग और अयोग न करना एवं प्रज्ञापराध न करना आदि कहा गया है। ये दूसरे शब्दों में प्रत्याहार ही है। प्रत्याहार हेतु लोक पुरुष साम्य की एक नवीन पद्धति आयुर्वेद में बतलाई गई है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि :

शरीर के बाहर अथवा शरीर के भीतर किसी एक देश में चित्त की वृत्ति को लगाने को धारणा कहते हैं[272] और जहाँ चित्त को लगाया जाय, उसी एक वृत्ति का लगातार चलना ध्यान है।[273] ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है और उसके अपने स्वरूप का अभाव हो जाता है, उस समय उस ध्यान को समाधि कहते हैं।[274] किसी एक विषय में इन तीनों का होना यम कहलाता है।[275]

आयुर्वेद में मानस दोष की चिकित्सा के लिए धारणा, ध्यान एवं समाधि को दूसरे रूप में बतलाया है। आचार्य चरक ने मानस रोगों का चिकित्सासूत्र बतलाते समय समाधि को बतलाया है। समाधि के पहले आचार्य ने ज्ञान-विज्ञान-धैर्य एवं स्मृति को बतलाया है।[276] दूसरे स्थान पर आचार्य ने कहा है कि मानस रोग उपस्थित होने पर धर्म, अर्थ एवं काम का ध्यान करना चाहिए तथा आत्मा आदि का ज्ञान अर्थात् धारणा करना चाहिए।[277] दूसरे आचार्यों ने भी धी-धृति एवं आत्मा का ज्ञान मानस दोष की चिकित्सा के लिए उत्कृष्ट औषधि बतलाया है।[278]

इस प्रकार आयुर्वेद में धारणा-ध्यान को धी-धृति आत्मा में चित्त को लगाने के रूप इनका ज्ञान करने के रूप में कहा गया है तथा समाधि को उसी रूप में

उसी शब्द से ग्रहण किया है। आत्मा आदि के ज्ञान को योग शब्द से ग्रहण किया गया है। समाधि आदि संयम मोक्ष के लिए ही उपयोगी है और उपर्युक्त योग भी मोक्षप्रवर्तक है।[279] धारणा, ध्यान और समाधि हेतु आयुर्वेद तत्त्वस्मृति के रूप में एक नया आयाम प्रस्तुत करता है।

हठयोग एवं तंत्रशास्त्र में छः प्रधान कर्म बतलाकर उसे षट्कर्म की संज्ञा दी गयी है। ये कर्म प्रधानतया शोधनकर्म ही हैं। आयुर्वेद में शोधन कर्म के लिए पंचकर्म का उपयोग किया जाता है। साथ ही स्नेहन-स्वेदन-नस्य-धूम-गण्डूष-कवलग्रह आदि का उपयोग दोनों पद्धतियों में किया गया है। इन कर्मो का उपयोग भी स्वस्थ एवं आतुर दोनों के लिए किया जाता है।

चरक संहिता आयुर्वेद की प्राचीनतम संहिताओं में से एक है, जिसमें अत्यन्त उच्चकोटि के योग का वर्णन किया गया है। इसमें विस्तृत रूप से प्रज्ञा का सिद्धान्त और योगस्थ पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं, जो कि पतञ्जलि के योगसूत्र में बतलाये गये ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त पुरुष के समान हैं और इसी को भगवद्गीता में योगस्थ पुरुष बतलाया गया है।[280]

जबकि आचार्य चरक ने यम-नियम आदि की भाँति सद्वृत्त, आचार-रसायन, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, धारणीय-अधारणीय, वाजीकरण, पंचकर्म आदि योग के बाह्य अभ्यासों का वर्णन किया है एवं साथ ही विशेषरूप से योगाभ्यास की उच्चतम प्राप्ति की स्थिति का भी वर्णन किया है। सत्याबुद्धि सिद्धियों की प्राप्ति अथवा ऐश्वर्य-प्राप्ति जैसे विषयों का भी वर्णन किया है।

आचार्य चरक कहते हैं कि पुरुष जो एक अकेला जीव है, वह लोक प्रतिनिधि स्वरूप है। इनके मत से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (लोक) षड्धात्वात्मक (छः भावों से सृजित) है। जैसे- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म इन्हीं छः धातुओं द्वारा पुरुष, जीव अथवा प्राणी बना है।[281]

'सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और मैं एक हूँ तथा यह प्राणी उसका एक भाग है'- इस प्रकार के ज्ञान को सत्याबुद्धि कहते हैं।[282]

सत्याबुद्धि-सिद्धान्त आचार्य चरक द्वारा अति मौलिक रूप में कहा गया है, जो कि अति सजीव रूप में वर्णित ज्ञात होता है। यह अपनी मौलिकता एवं सजीवता के कारण पतञ्जलि का ऋतम्भराप्रज्ञा-सिद्धान्त चरक के सत्याबुद्धि-सिद्धान्त की तुलना में पूर्णतः अस्तित्वविहीन ज्ञात होता है।[283]

इस प्रकार 'सत्याबुद्धि' अन्तिम वास्तविक ज्ञान की अवस्था है। यह सभी प्रकार के दुःखों को दूर करती है और 'मोक्ष' की ओर ले जाती है। आचार्य चरक के अनुसार 'स्वता' या ममता सभी दुःखों का कारण है। सत्याबुद्धि की उत्पत्ति आत्मा को आत्मसात् कर ऊपर उठाती है, साथ-साथ स्वता (ममता) को भी आत्मसात् कर लेती है। इससे निज एवं सांसारिक दुःखों का अन्त हो जाता है। आचार्य चरक पुनः कहते हैं- 'प्रवृत्तिर्दुःखम्, निवृत्तिः सुखमिति' (च०शा० 5/8) अर्थात् प्रवृत्ति सभी दुःखों का कारण है और निवृत्ति स्वाभाविक प्रसन्नता का स्रोत है।[284] प्रवृत्ति कर्म के द्वारा आरम्भ होती है। सत्याबुद्धि सभी प्रकार के कर्मो का उन्नयन और निवृत्ति का वहन करती है। यह निवृत्ति उत्कृष्ट उपलब्धि मानी जा सकती है।[285] अन्तिम अनुभूति और मोख को एक-दूसरे का पर्याय समझा जा सकता है।[286] इस प्रकार आचार्य चरक ने उच्चकोटि की यौगिक उपलब्धि सत्याबुद्धि आदि

का वर्णन किया है और इस प्रकार की उपलब्धि के लिए मानवता का एक मार्ग भी प्रशस्त किया है। उनकी नैतिक शिक्षा उच्च ज्ञान के अर्थ के रूप में बहुत ही सुलझे रूप में विभिन्न प्रकरणों में कही गई है।[287]

उपर्युक्त उच्च ज्ञान अपने में एक अनोखा प्रकार है। आचार्य चरक ने भी ऐश्वर्यो और सिद्धियों को उसी प्रकार करने योग्य बतलाया है, जिस प्रकार पातञ्जलयोगसूत्र में कहा गया है। चरक ने ऐश्वर्यो का वर्णन योगियों की स्वाभाविक शक्ति के रूप में किया है और कहा है कि जब योग की सिद्धियाँ हो जाती हैं तो निम्न लक्षणों से उनका परिचय मिलता है-

1. **आवेश :** एक आत्मा को दूसरे शरीर में प्रवेश करने की क्षमता। इसी को परकाया प्रवेश क्रिया भी कहते हैं।

2. **चेतसो ज्ञान :** सभी जानने योग्य भावों का ज्ञान तथा दूसरे के मन की बात जानना।

3. **अर्थानां छन्दतः क्रिया :** शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध को अपनी इच्छा से प्रवृत्त करना, अर्थात् जो सम्भव है उसे कर सकने की क्षमता।

4. **दृष्टि (ईश्वरीय दृष्टि) :** अतीन्द्रिय वस्तुओं को आवरण की उपेक्षा कर देखने की क्षमता।

5. **ईश्वरीय कर्णक्षमता :** कर्णेन्द्रिय द्वारा अपने इच्छित शब्द, चाहे वे दूर हों या नजदीक, सुनने की क्षमता।

6. **स्मृति (ईश्वरीय स्मरणशक्ति) :** सभी भावों या तत्त्वों को समझना।

7. **कान्ति (ईश्वरीय कान्ति) :** शरीर-वर्ण एवं कान्ति में अत्याकर्षण।

8. प्रत्यक्ष और अन्तर्ध्यान होने की क्षमता : योगसूत्र में इन्हें अष्टसिद्धि के रूप में कहा गया है।

9. अष्टसिद्धियाँ निम्न हैं : (1) अणिमा, (2) महिमा, (3) लघिमा, (4) प्राप्ति, (5) प्राकाम्य, (6) ईशित्वम्, (7) वशित्वम्, (8) कामानसात्वम्।

आचार्य चरक द्वारा वर्णित ऐश्वर्य ही अष्टसिद्धियाँ ज्ञात होती हैं, क्योंकि ये आठों एक दूसरे से अधिक अंशों में मिलते हैं।

यह कहा जा सकता है कि सुश्रुत संहिता के मत से, जो कि चरक संहिता जैसी ही उपयोगी संहिता है, उन ऐश्वर्यो की प्राप्ति एक विशिष्ट ईश्वरीय द्रव्य 'सोम' से हो सकती है।[289]

योग और आयुर्वेद एक ही प्रकार के विज्ञान हैं। दोनों एक ही उद्देश्य के लिए एक काल एवं देश में समकालीन विद्वानों द्वारा विकसित की गई शिक्षा पद्धतियाँ हैं। अन्तर केवल इतना है कि आयुर्वेद जहाँ मनुष्य के सम्पूर्ण लाभ जो कि चतुर्वर्ग के रूप में बताता है, वहाँ योग मनुष्य के मनो-आध्यात्मिक विकास को सुनिश्चित करता है। आचार्य चरक ने यम-नियम आदि को सद्वृत्त, आचार-रसायन एवं चर्या आदि के रूप में तो बतलाया ही है, साथ ही उच्च श्रेणी का योग भी। उच्च ज्ञान का अभिप्राय अन्तिम वास्तविकता की अनुभूति, लोक एवं पुरुष में साम्यता जो कि सत्याबुद्धि है तथा मोक्ष एवं मोक्ष के साधनों का में वर्णन किया है।

सन्दर्भ-सूची

1. (क) शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगोधारि जीवितम्।
स्वत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। (चरक)
(ख) शरीरेन्द्रियात्मसत्वं समुदायं पुरूषमाचक्षते। (काश्यप)
2. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तार: श्रेयसो जीवितस्त्य च।। (च0सू0 1/15)
3. न जन्तु: कश्चिदमर: पृथिव्यां जायते क्वचित्।
अतो मृत्युरवार्य: स्यात्किन्तु रोगान्निवारयेत्।। (शार्ङ्ग.धर)
4. (क) सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावे हि भावानां सर्वाभाव: शरीरिणम्।। (च0नि0 6/7)
नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।। (च0सू0 5/103)
(ख) तस्मादात्मवतांनित्यमाहाराचारभेषजम्।
धीमतां तदनुष्ठेयं स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।। (वृन्दमाधव)
(ग) एवं विज्ञाय मतिमान् स्वस्थवृत्तपरो भवेत्।
आयुआरोग्यधर्मादि स्वास्थ्यादेव हि जायते।। (स्वस्थवृत्त समुच्चय)
5. मानवो येन विधिना-------तिष्ठति नान्यथा।। (मा0प्र0)
6. सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्व प्रतिष्ठितम्।। (च0सू0 1/46)
7. निर्विकार: परस्त्वात्मा सत्त्वभूत गुणेन्द्रियै:।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रिया।। (च0सू0 1/56)
8. समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिय:।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: स्वस्थ इत्यभिधीयते।। (सु0सू0 15/44)

9. तस्मादात्मवतानित्यमाहाराचारभेषजम्।
धीमता तदनुष्ठेयं स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।। (वृन्दमाधव)

10. ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेज्जीर्णाऽजीर्ण निरूपयन।
रक्षार्थमायुषः स्वस्थो दर्पणेन विचक्षणः।।
मुखस्यालोकनं कुर्याज्जातवेगः समुत्सृजेत्।
उदङ्.मुखो मूत्रं शकृद् दक्षिणाभिमुखोनिशि।।
वाचं नियम्य प्रयतः संवीताङ्ग.ोऽवगुष्ठितः।
पवर्तयेत्प्रचलितं नतु यत्नादुदीरयेत्।। (अ0सं0सू0 3)

11. गुदादिमलमार्गाणांशैचंकान्तिबलप्रदम्।
पावित्र्यकश्मायुष्यमलक्ष्मीकलिपापहृत्।।
पक्षालनं हि पाष्योश्च पादमोः शुद्धिकारणम्।
मलश्रमहरं वृष्यं चक्षुष्यं राक्षसापहम्।। (योगरत्नाकरः)

12. स्पृष्टता धातून् मलानश्रु वसाकेशनखांश्च्युतान्।
स्नात्वा भोक्तुमना भुक्त्वा सुप्त्वा क्षुत्वा सुराचने।।
रथ्यामाक्रम्य चाचामेदुपविष्ट उदङ्.मुखः।
पाङ्.मुखो वा विविक्तस्थो न वहिर्जानिनान्यदृक्।।
अजल्पन्नत्तरासङ्ग.ी स्वच्छैरंगुष्ठमूलगैः।
नोद्धृतैननितो नोर्ध्व नाग्निपक्वैर्न पूतिभिः।।
न फेनबुद्बुक्षारै नैकहस्तार्पितैर्जलैः।
नार्द्रैकापाणि नमिध्यहस्तपादो न शब्दवत्।। (अ0स0)

13. तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशांगुलमायतम्।
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितमव्रणम्।।

14. अवेक्ष्यर्तु च दोष च रसं वीर्य च सर्वदा।
कषायं मधुर तिक्तं कटुकं योजयेन्नरः।।
निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठ कषाये बब्बुलस्तथा।
मधुको मधुरे श्रेष्ठः करज्जः कटुके तथा।। (सु0चि0अ0 24)

15. जिह्वानिर्लेखनम् रौप्यं सौवर्ण वार्क्षमेव च।
तन्मलापहरं वक्रं मृदुश्लक्ष्णं दशाङ्.गुलम्।। (सु0चि0अ0 24)

16. जिह्वामूलगतं यच्च मलमुच्छवासरोधि च।
दौर्गन्ध्यं भजते तेन तस्माज्जिह्वां विनिर्लिखेत्।। (च0सू0अ0 25)

17. गण्डूषमथ कुर्वीत शीतेन पयसा मुहुः।
कफतृष्णामलहरं मुखान्तः शुद्धि कारकम्।।

18. सुखं लघ निरीक्षते दृढं पश्चति चक्षुषा।
मतं स्त्रोतोऽज्जन श्रेष्ठ विशुद्धं सिन्धुसंभवम्।।
दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरूजापहम्।
तेजोरूपावलं चैव सहते मारूतातपी। (सु0चि0 24)

19. आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्त वस्तिवत्।
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते।।
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्सनेहाः स्वस्थस्य नेतरे।। (च0सू0अ0 20)

20. हरेणुकां प्रियुंगुं च पृथ्वीकां केशरं नखम्।
ह्रीवेरं चन्दनं पत्रं त्वगेलोशीरपद्मकम्।।
ध्यामकं मधुकं मांसी गुण्गुल्वगुरूशर्करम्।
न्याग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षलोध्रत्वचः शुभा।।
वन्यं सर्जरसं मुस्तं शैलेयं कमलोत्पले।
श्रीवेष्टकं शल्लकीं च शुकवर्हमथापि च।।
पिष्टवालिम्पेच्छरेषीकांतां वर्ति यवसन्निभाम्।
अंगुष्ठसम्मितां कुर्यादष्टांगुलसमां भिषक्।।
शुष्कां विगर्भा तां वर्ति धूमनेत्रर्पितां नरंः।
स्नेहाक्तामग्निसंप्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम्। (च0सू0 5/20-24)

21. प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः संपरिकीर्तिताः।
वातश्लेष्मसमुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते।।

स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान् विघृष्य च।
नावनाज्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत्।।
तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः। (च0सू0 5/33-35)

22. रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानास्त्रिस्त्रयस्त्रयः।
परं द्विकालपायी स्यादहनः कालेषु बुद्धिमान्।। (च0सू0 5/32)

23. चरक सूत्र 5/41-46.

24. शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धनी।
देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्।। (च0सू0 7/31)

25. स्वेदागमः श्वासवृद्धिर्गात्राणां लाघवं तथा।
हृदयाद्युपरोधश्च इति व्यायामलक्षणम्।। (च0सू0 7/33)

26. लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्य दुःख सहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते।। (च0सू0 7/32)

27. (क) श्रम क्लमः क्षयस्तुष्णा रक्तपितं प्रतामकः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरछर्दिश्च जायते।। (च0सू0 7/33)
(ख) क्षयतृष्णाऽरूचिश्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः।
कासशोषज्वरश्वास अति व्यायाम सम्भवा।। (स्वस्थवृत्त समुच्चय)

28. व्यायामहास्यभाष्यध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्।
नोचितानपिसेवेतं बुद्धिमानतिमात्रया।। (च0सू0 7/34)

29. प्रक्षेपापचये ताभ्यां पादांशिको भवेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्वयन्तरं त्र्न्तरं तथा।। (च0सू0 7/36)

30. रक्तपिती कृशः शोषी श्वासकास क्षतातुरः।
भुक्तवान् स्त्रीषुच क्षीणो भ्रमार्तश्च विवर्जयते।। (सु0चि0 28)

31. वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च।
समीक्ष्य कुर्याद् व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्।। (सु0चि0 24)

32. अथ जातान्नपानेच्छो मारूतघ्नैः सुगन्धिभिः।
अथर्तुसंस्पर्श सुखैस्तैलैरभ्यङ्ग.माचरेत्।। (वृद्धवाग्भट)

33. अभ्यङ्ग.माचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्।।
शिरः श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।। (अ0हृ0सू0)

34. स्नेहाभ्यङ्ग.द्यथा कुम्भश्चर्य स्नेहविमर्दनात्।
भवत्युयाङ्ग.द्क्षश्चदृढ़ क्लेशसहो यथा ।।
तथा शरीर मध्यङ्ग.द्दृढ़ सुत्वक् च जायते।
प्रशान्तमारूताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्।। (च0सू0 5/8: -86)

35. स्नानं दाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्।
हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविशोधनम्।।
तन्द्रापापोपशमन तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्।
रक्तप्रसादनं चापि मतमग्नेश्च दीपनम्।। (सु0चि0अ0 24)

36. प्रातः स्नानमलंच पापहरण दुःस्वप्नविध्वंसनम्।
शौचस्यायतन मलाप हरणं संवर्धनं तेजसाम्।।
रूपद्योतकरं शरीरसुखदं कामाग्निसंदीपनम्।
स्त्रीणां मन्मथगाहनं श्रमहरं स्नाने दशैते गुणाः।। (यो0र0)

37. तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु।
आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्।। (सु0)

38. स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम्।
स्नानं येषां निषिद्धन्तु तेषामप्यनुलेपनम्।।

39. रक्षोघ्नमथ चौजस्यं सौभाग्यकरमुक्तमम्।
सुमनोऽम्बररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम्।। (सु0चि0 24)

40. काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम्।। (च0सू0 5/95)

41. कदापि न जनैः सद्भिर्धार्य मलिनमम्बरम्।
तत्तुं कण्डूकृमिकरं ग्लान्यलक्ष्मीकरं परम्।। (भाव प्रकाश)

42. त्रय उपस्तम्भा इति आहारः स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति, एभिस्तिभिर्युक्तियुक्तै-रूपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरम् बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात् संस्कारमहितमनुपसेवामानस्य। (च0सू0 11/35)

43. आहारः प्रीणनं सद्यो बलकृद देहधारकः।
आयुस्तेजः समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः।। (सू0चि0अ0 24)

44. एतानि पञ्चकर्माणि संध्यायां वर्जयेद्बुधः।
आहारं मैथुनं निद्रां सम्पाठं गतिमध्वनि।।
भोजनाज्जायते व्याधिमैथुनात् गर्भवैकृतिः।
निद्रया निःस्वता पाठादायुहानिर्गगतेर्भयम।। (भा0प्र0)

45. रात्रौ तु भोजनं कुर्यात्प्रथमप्रहरान्तरे।
किञ्चिदूनं समश्नीयाद् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्।। (भा0प्र0)

46. भुक्त्वा पूर्वोक्तमाचारं कृत्वा हृष्टमनाः शुचिः।
देशे शुचावनाकीर्णे द्वित्राप्तपरिचारकः।।
युक्तोपधानं स्वास्तीर्ण विस्तीर्णाविषमं सुखम्।
जानुतुल्यं मृदुशुभं सेवेत शयनासनम्।।
प्राग्दक्षिणशिराः पादावकुर्वाणो गुरून्प्रति।
पूर्वापरदिशो भागे धर्ममेवानुचिन्तयन्।। (अ0सं0)

47. (क) शरीरे जायते नित्यं देहिनः सुरतस्पृहा।
अव्यवायान्मेहमेदोवृद्धिः शिथिलता तनोः।। (भा0प्र0)
(ख) रात्रौ व्यवायं कुर्वीत योषिता निजया सह। (क्षे0कु0)

48. (क) बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडशः।
ततस्तु तरूणी ज्ञेया द्वात्रिंशद्वत्सरावधि।।
तदूर्ध्वमधिरूढ़ा स्यात्पञ्चाशद्वत्सरावधि।

वृद्धा तत्परतो ज्ञेया सुरतोत्सववर्भिता।। (भा0प्र0)

(ख) निदाघशरदोर्बाला हिता विषयिणी मता।

तरूणी शीतसमये प्रौढ़ा वर्षावसन्तयोः।। (भा0प्र0)

49. ऋतुकाले तु सुरतमवश्यं कारयेद्बुधः।

स्त्रीनिःश्वासहतो ना हि दुर्भगत्वमवाप्नुयात्।। (भा0प्र0)

50. स्नानुलेपनहिमालिनखण्डखाद्यशीताम्बुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः।

सेवेत चानुशयनं विरतौ रतस्यतस्यैवमाशु वपुषः पुनेरतिधाम। (वागभट्ट)

51. मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्।

वत्सराद् द्वादशादूर्ध्व याति पञ्चाशतः क्षयम्।। (वागभट्ट)

52. आर्त्तवस्रावदिवसाद्वतुः षोडशरात्रयः।

गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृत।ः। (भा0प्र0)

53. न वेगान् धारयेद्धीमान्ऽजातान् मूत्र पुरीषयोः।

न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च।।

नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान क्षुत्पिपासयोः।

न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च।। (च0सू. 7/3-4)

54. वेगान्न धारयेद् वातमिष्मूत्रक्षवतृटक्षुधाम्।

निद्राकासश्रमश्वांस जृम्भाश्रु छर्दिरेतसाम्।। (अ0स0सू0 5/6)

55. बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्र कृच्छ्रं शिरोरूजा।

विनामो वङ्.क्षणानाहः स्याल्लिङ्ग. मूत्रनिग्रहे।। (च0सू0 7/6)

56. पक्वाशय शिंरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्त्तनम्।

पिण्डिको द्वष्टे नाध्मानं पुरीषे स्याद्धिधारिते।। (च0सू0अ0 7/8)

57. मेढ़ेवृषणयोः शूलमङ्ग.मर्दो हदि व्यथा।

भवेत् प्रतिहते शुक्रं विवद्धं मूत्रमेव च।। (च0सू0अ0 7/10)

मूत्राशये वा· गुदमुष्कयोश्च शोको रूजा मूत्रविनिग्रहश्च।

शुक्राश्मरी तत्स्रावणां भवेद्वाते ते विकारा विहतेतु शुक्रे।। (उ0अ0 55)

58. संगो विष्मूत्रवाता नामाध्मानं वेदना क्लमः।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात्।। (च0सू0 7/12)

59. कण्डू कोठरूचिव्यंगशोथ पाण्ड्वामयज्वराः।
कुष्ठहृल्लासविसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः।। (च0सू0 7/14)

60. मन्यास्तम्भः शिरः शूल मर्दितार्धावभेदकौ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात्।। (च0सू0 7/16)

61. हिक्का श्वासोऽरूचिः कम्पोविबन्धो हृदयोरसोः।
उद्गारनिग्रहान्तस्य हिक्कायास्तुल्य मौषधम्।।

62. विनामाक्षेप संङ्कोचाः सुप्ति कम्पः प्रवेपनम्।
जृम्भाया निग्रहात्तत्र सर्व वातघ्नमौषधम्।। (च0सू0 7/19)

63. कार्श्य दौर्बल्यवैवर्ण्यमंगम र्दोऽरूचिर्भ्रमः।
क्षुद्वेगनिग्रहात्तत्र स्निग्धोष्णं लघु भोजनम्।। (च0सू0 7/20)

64. कण्ठास्यशोषो बाधिर्य श्रमः सादो हृदि व्यथा।
पिपासानिग्रहात्तत्र शीतं तर्पणमिष्यते।। (च0सू0 7/21)

65. प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारूचिर्भ्रमः।
वाष्पनिग्रहणान्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः।। (च0सू0 7/22)

66. जम्भाङङ्ग.मर्दस्तन्द्रा च शिरोरोगोऽक्षिगौरवम्।
निद्राविधारणात्तत्र स्वप्नं संवाहनानि च।। (च0सू0 7/23)

67. गुल्महृद्रोग संमोहाः श्रमनिः श्वास धारणात्।
जायन्ते तत्र विश्रामो वातध्न्मश्च क्रिया हिताः।। (च0सू0 7/26)

68. इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेंह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्काय कर्मणाम्।। (च0सू0 7/26)

69. (क) शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।(च0सू0 1/55)
(ख) ते च विकाशः परस्पर मनुवर्तमानाः कदाचिदनुवध्नन्तिकामादयोयश्र।
(च0वि0 6/8)

(ग) शरीरमपि सत्वमनुविधीयते, सत्वं च शरीरम्। (च0शा0 4/37)

70. रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामानमद शोक चिन्तो द्वेगभयहर्षादयः।। (च0वि0 6/5)

71. तस्मादात्महितं चिकिर्षता सर्वेण सर्व सर्वदा स्मृतिसास्थाय सद्वृत्मनुष्ठेयम्।
तद्यनुष्ठानं युगपत्सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति।। (च0सू0 8/17)

72. स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद वृष्यं तद्रसायनम्।
प्रायः प्रायेण रोगाणं द्वितीयं प्रथमे मतम्।।
प्रायः शब्दो विशेषार्थो ह्यु भयं ह्यु भयार्थकृत।
दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरूणं वयः।।
प्रभावर्ण स्वरौदार्य देहेन्द्रिय बलं परम्।
वाक्सिद्धि प्रणतिं कान्तिं लभते न रसायनाम्।।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीना रसायनम्। (च0चि0 1/1/4-7)
यज्जराव्याधि नाशनं तद्रसायनम्। (शा0सं0पू0ख0 4/13)
रसायन तन्त्रं नाम वयः स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थ च।
(सु0सू0 1/7)

73. पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्।
प्रयुज्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा।।
ना विशुद्धंशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः।
न भाति वाससि क्लिष्टे रंग योग इवाहितः।। (सु0चि0 27/3-4)

74. रसायनानां द्विविधं प्रयोगभृषयो विदुः।
कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च।। (च0चि0 1/1/15)

75. तत्तु द्विविधं कुटीप्रावेशिकं वातातपिकं च।
तत्र वीर्याप्रभाव प्रयोग परिहार गुरूत्वात् कुटीप्रावेशिकं महाफलतरम्।
(शा0स0 2/6/20)

76. बाल्यं वृद्धिश्छविर्मेधा त्वक्दृष्टिः शुक्रविक्रमौ।

बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चेतो जीवितं दशतो ह्रसेत्।। (शा0स0 2/6/20)

77. मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेणयण्टीमधुकस्य चूर्णम्।

रसो गुडूच्यास्तु समूल पुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः।।

मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्याविशेषेण च शंखपुष्पी।

(च0चि0 1/3/30-31)

78. इह खलु पुरूषेणानुपहतसत्त्व बुद्धि पौरूष पराक्रमेण हितमिह चायुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्त्र एषणाः प्रयष्टव्या भवति। तद्यथा प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति। (च0सू0 11)

79. धमार्थकाममोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम्। (च0सू0 1)

80. वाजीकरणमन्विच्छेत्पुरूषो नित्यमात्मवान्। तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यशः एव च पुत्रस्यायतनं हृयेतद्गुणाश्चैते सुताश्रयः।। (च0चि0 2/1/3)

81. त्रय उपस्तम्भाः आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। (च0सू0 11)

82. ब्रह्मचर्यमायुष्कराणां। (च0सू0 25)

83. वाजीकरण तंत्र नामाल्पदुन्टक्षीणविशुष्क रेतसाम्।

आप्यायनप्रसादोपचयजनननिमितं प्रहर्षजननार्थञ्चे। (सु0सू0 1/8)

84. तुष्टिः पुष्टिरपत्यं च गुणवत्तत्र संश्रितम्।

अपत्यसंतानकरं यत्सद्यः सम्प्रहर्षणम्।

तद् वाजीकरणं तद्धि देहस्योर्जस्करं परम्।। (अ0हृ0उ0 40/1-3)

85. एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्य बलप्रदा।

सेव्या विशुद्धो पचित देहैः कालाद्यपेक्षया।। (सु0चि0 26/39)

86. सप्तत्यन्त प्रकुर्वीत वर्षादूर्ध्वं तु षोडशात्। न चैव षोडशाढर्वाक् सप्तत्याः परतो न च आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोग कर्तुमर्हति। अकाल मरणञ्च स्याद भजतः स्त्रिमन्यथा। (यो0र0)

87. कल्पस्योदग्रवयसो बाजीकरणसेविनः।

सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः।

स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम्।

योषित्प्रसंगात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम्।।

विलासिनामर्थवर्ता रूपयौवन शालिनाम्।

नृणां च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिता:।।

हिता बाजीकरा योगा: प्रीत्यपत्यबलप्रदा:।। (भा0प्र0)

88. ग्लानि: कम्पोऽवसादस्तदनुकृशता क्षीणता चेन्द्रियणाम्।

शोषोच्छवासोपदंशज्वर गुदजादा क्षीणता सर्वघातौ।।

जायन्ते दुर्निवारा: पचन परिभव: क्लीवता लिङ्ग.भंगो।

वामाऽवश्याति योगाद् भजत इह सदा वाजिकर्मा च्युतस्य।। (भै0र0)

89. कर्म पंचविधमुक्तं वमनादि। (च0सू0 26/10)

90. (क) वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।

एतानि पंचकर्माणि कथितानि मुनीश्वरै:।। (शा0सं0उ0 8/63)

(ख) प्रथमं वमनं पश्चात् विरेकश्चानुवासनम्।

एतानि पंचकर्माणि निरूहो नावनं तथा।। (भा0प्र0पू0)

91. अन्यें तु संशोध्यास्य पाचनस्नेहनस्वेदनानि पूर्वकर्म, वमनविरेचनवस्तिनस्यशिरो-मोक्षणानि प्रधानं कर्म, पेयाद्यन्नसंसर्जनं पश्चात्कर्म। (डल्हण,सु0सू0 5/1)

92. कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च।

स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत्।। (चि0सि0 6/7)

93. चरक संहिता सूत्र स्थान (15/6-7)

94. ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्। (अ0हृ0सू0 13/23)

95. वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।

शाखामुक्त्वा मला: कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्।। (च0सू0 28/33)

96. एवं विशुद्ध कोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते।

व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते।।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति।

बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते।।
जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः। (च0सू0 16/17-18)

97. दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरूदभवः।। (च0सू0 16/20)

98. संशोधनं संशमनं निदानस्य च परिवर्जनम्।
एतावद् भिषजाकार्य रोगे रोगे यथाविधि।। (च0वि0 7/30)

99. (क) माधवे प्रथमे मासि नभस्य प्रथमे पुनः।
सहस्य प्रथमे चैव हारयेद्दोषसंचयम्।। (च0सू0 7/46)
स्निग्धस्विन्न शरीराणामूर्ध्व चाधस्च नित्यशः।
वस्तिकर्म ततः कुर्यान्नस्यकर्म च बुद्धिमान्।। (च0सू0 7/47)

(ख) हैमन्तिकं दोष चयं वसन्ते प्रवाहयन ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु।।
(च0शा0 2/45)
प्रवाहयन् इत्यनेन यथायोग्यतया वमनादिनेति ज्ञेयम्। (चक्रपाणि)

(ग) हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पितं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्।। (सु0सू0 6/38)

(घ) संधौ साधारणे तेषां दुष्टान् दोषान् विशोधयेत्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य, व्याधौ व्याधिवशेन तु।। (अ0हृ0सू0 13/35)

(च) वमनैश्च विरैकैश्च निरूहैः सानुवासनैः।
तथा स्वास्थ्यमवाप्नोति रोगेभ्यश्च प्रमुच्यते।। (काश्यपः खिल0 7/15)

(छ) वक्ष्यामि तु क्रियामस्यां अजा (ज्ञा) त व्याधिनाशनीम्। (भेल)

100. येषां न मृत्यु सामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्।
कर्म पंचविधं तेषां भेषजं परमुच्यते।। (च0वि0 3/13)

101. (क) तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः तनु।
रसायनं प्रयुज्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम्।। (च0चि0 1/1/24)

(ख) तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्य बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ता क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः।।
(च0चि0 2/1/51)

(ग) पूर्ववयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्।
प्रयुज्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्ध शुद्धतनोः सदा।।
ना विशुद्ध शरीस्य युक्तो रासायनो विधिः।
न भाति वाससि क्लिष्टे रंगयोग इवाहितः।। (सु0चि0 27/3-4)

102. सु0कु0 2/40-43, च0चि0 23/44-49.

103. त्रिविधं कर्म पूर्वकर्म प्रधानकर्म पश्चात कर्मेति। (सु0सू0 5/1)

104. अपरे चयादीनां पूर्वरूपन्तानां आतकोत्पत्तेः प्राक्क्रियते तत्पूर्वकर्म।
तत्रैके लंघनादि विरेकपर्यन्तं पूर्वकर्म।
अन्यं संशोधन पाचन स्नेहनं स्वेदनादि पूर्वकर्म (डल्हण, सु0सू0 5/1)

105. च0शा0 2/45.

106. च0सू0 7/46-47.

107. स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्। (च0सू0 22/11)

108. स्नेहमग्रे प्रयुज्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमनन्तरम्।। (च0सू0 13)

109. (क) स्नेहानां द्विविधा सौम्य! योनिः स्थावरजङ्ग.मा।। (च0सू0 13/9)
(ख) सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मता।
एषुचैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्।। (च0सू0 13/13)
(ग) सर्वेषां तैलजातानां तिल तैलं प्रशस्यते। (च0सू0 13/12)

110. सर्पिः शरदि पातर्व्य, वसा मज्जा च माधवे।
तैलं प्रावृषि नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नर।। (च0सू0 13/19)

111. वातपित्ताधिकों रात्रावृष्णे चापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिको दिवा शीते पिवेच्चामलभास्करे।। (च0सू0 13/19)

112. (क) जलमुष्णं घृते पेयं यूषस्तैलऽनु शस्यते।
वसामज्जोस्तु मण्ड: स्यात्सर्वेषूष्णमथाम्बु वा।। (च0सू0 13/22)
(ख) उष्णोदकानुपानन्तु स्नेहानामथ शस्यते।
ऋते, भल्लातकस्नेहात्स्नेहात्तोवरकात्तथा।। (सु0सू0 46)

113. अन्त्वपेयस्तु य: स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्ट: कल्प: प्राथमकल्पिक:।। (च0सू0 13/26)

114. चरक संहिता सूत्र स्थान अध्याय 1 (13/22-24)

115. मात्रोगत्रयह: कृत्स्नमहोहं न प्रतीक्षते।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति।। (च0सू0 13/29)

116. स्नेनस्य प्रकर्षो तु सप्तरात्रत्रिरात्रको। (च0सू0 13/51)

117. मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्त रात्रेण मानव:।। (च0सू0 13/65)

118. स्वेद्या: शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिण:।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्या: स्नेह्या: स्युर्ये च चिन्तका:।।(च0सू0 13/52)

119. वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्च: स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे. स्निग्धानामुपजायते।।(च0सू0 13/58)

120. इत्युक्तो द्विविध: स्वेद: संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च। (च0सू0 14/64)

121. चतुर्विध: स्वेद: तद्यथा-तापस्वेद: उष्मस्वेद: उपनाहस्वेदो द्रवस्वेद इति।
(सु0चि0 32/3)

122. चरक संहिता सूत्र स्थान (14/38-39)

123. चरक संहिता सूत्र स्थान (14/63)

124. च0सि0 1.

125. च0सू0 14.

126. तत्र दोष हरणं उर्ध्वभाग वमनसंज्ञकम्। (च0क0 1/4)

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः।

वृद्धाः निर्हर्तव्याः समां परिपाल्याः, इति सिद्धान्तः।।

प्रधान्येन वमनविरेचन वर्तते निर्हरणे दोषाणाम्। (सु0चि0 33/2)

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकरयौषधानि स्वतीर्येण हृदयमुपेत्य। (च0क0 1/5)

चरक सिद्धि 2/8, सुश्रुत चि0 33/14-15, अष्टांग हृदय सू0 18/3-6.

पित्तान्तमिष्टं वमनं। (च0सि0 1/13)

प्रस्थस्ताथाद्वित्रिचतुर्गुणश्च। (च0सि0 1)

स्नेहस्वेदोपयन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम्।

एकाग्रमनसा पीतं सम्यग् योगाय कल्पते।। (च0सि0 6/10)

काले प्रवृत्तिरनतिमहती व्यथा यथाक्रमं च दोषहरणं स्वयं च अवस्था नमिति योग लक्षणानि। (च0सू0 15/13)

हृते दोषे वदेत् कार्श्य दौर्बल्ये चेत्सलाघवे। (च0सि0 6/20)

प्रेष्य भैषज्य वैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च। (च0सि0 6/30)

आध्मानं परिकर्तश्च स्रावो हृदगात्रयोर्ग्रहः।

जीवादानं स विभ्रंश स्तंभः सोपद्रवः क्लमः।।

अयोगादतियोगाश्च दशैता व्यापदो मतः।। (च0सि0 6/29)

योगः सम्यग् प्रवृत्तिः स्याद् अतियोगोऽतिवर्तनम्।

अयोगः प्रतिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्।। (च0सि0 6/31)

वैद्यातुरनिमित्तवमनं विरेचनं च पच्चदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्य अधोगतिरूर्ध्वविरेचनस्य इति पृथक। सामान्युनुभयोः सावशेषौधत्वं जीर्णोषधत्वं, हीनदोषापहृतत्वं, वातशूलं, अयोगः, अतियोगः, जीवादानं अध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः प्रवाहिका, हृदयोपसरणं विबंध इति।

(स0चि0 34/2)

च0सू0 15/14, 5/20-26, सू0चि0 33/10.

च0सू0 15/15.

च0सि0 9/2, 1/11, च0सू0 15/16.

141. च०सि० 6/25, च०सू० 23/35-38.

142. च०सि० 1/20, सु०चि० 36/51.

143. पेया विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकाय: प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्ध:।।
(च०सि० 1/11, अ०हृ०सू० 18/29)

144. ततोपराह्ने शुचि शुद्धदेहं उष्णाभिरभ्दि: परिषिक्तगात्रम्।
कुलत्थमुद्गाढकि जांगलानां यूषै: रसैर्वापि उपभोजयेत्।। (सु०चि० 33)

145. चरक सूत्र 15/16.

146. कफपित्तेऽवशुद्धेल्पं मद्यपैर्वातपैत्तिके।
तर्पणादिक्रमं कुर्यात् पेयाभिष्यंदयेद्धितान्।। (च०सि० 6/25)

147. संसृष्ट भक्तं नवेमेह्नि सर्पि: तं पापयेत्। (च०सि० 1/20)
पक्षात् विरेको वातस्य।। (सु०चि० 36/51)

148. तत्र दोष हरणं अधोभागम् विरेचनसंज्ञकम्। (च०क० 1/4)

149. विरेचनं पित्तं हराणाम्। (च०सू० 25/40)

150. पित्तेतु विरेकं श्लेष्मसंसृष्टे वातस्थानगते वा श्लेष्माणि इति। (अ०सं०सू० 27)

151. त्रिवृत्सुख विरेचनानां (श्रेष्ठ) चतुरगंलो मृदुविरेचनानां स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेच- नाना।
(च०सू० 25/40)

152. (क) विरेचनं पित्तहराणाम्। (च०सू० 25/40)
(ख) कुर्याच्छोंणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च। (च०सू० 24/18)
(ग) प्रतिमार्ग च हरणं रक्तपित्ते विधीयते। (च०नि० 2/19)

153. स्नेहवत् द्रवमुष्णं च त्र्यं: भुक्त्वा रसौदनम्। (च०सू० 13/80)

154. भवन्ति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहणत्युल्वणाऽनिला।
उदीर्ण पित्ताल्प कफाग्रहणी मंदमारूता।। (मृदुकोष्ठस्य च०सू० 13/68)

170. उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात्।

171. च0सि0 12/15.

172. च0सि0 10/3 पर चक्रपाणि।

173. च0सि0 8/2 पर चक्रपाणि।

174. सु0चि0 37/39.

175. सु0चि0 38/17.

176. सु0चि0 35/10.

177. च0चि0 19/71-75.

178. च0चि0 8/26.

179. च0सू0 1/83-84.

180. च0सू0 1/87.

181. च0सू0 1/94-95.

182. च0सू0 2/11-14.

183. च0सू0 4/24.

184. च0सू0 2/11-14.

185. च0चि0 8.

186. सु0चि0 38/24-28, अष्टांग हृदय सूत्र 15/3.

187. च0सि0 2, सु0चि 35, अ0हृ0सू0 19.

188. नेत्रालाभे हितानाड़ी नल वंशास्थि संभवाः। (सु0चि0 35/14)

189. च0सि0 5:4, 5, सु0चि0 36/6-9.

190. समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्वौकवयोबलानि।
वस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमति।
(च0सि0 3/6)

191. स्वाद्वम्ल . लवणैःशस्त्र स्नेहवस्ति समीरणे।
रक्ते रक्तेन पित्ते तु कषाय स्वादु तिक्तकैः।

सार्यसाणे कफे वस्ति: कषाय कटु तिक्तकै:। (च0सि0 8/23-25)

192 आगतौ परम: काल: मुहूर्तो मृत्यवे परम। (अ0हृ0सू0 11/47)

- निरूद्ध प्रत्यागमकालस्तु मुहूर्तो भवति। (सु0चि0 38/5)

193. सु0चि0 35/18, अ0हृ0सू0 19/47-48.

194. च0सि0 1/40, 3/41, सु0चि0 38/10.

195. च0सि0 1/42, सु0चि0 38/8.

196. च0सि0 1/43, सु0चि0 38/9.

197. कलस्तु वस्त्यादिषु यति यावान् तावान् भवेद्धि: परिहार काल:।

(च0सि0 15/4)

198. औषधमौषधसिद्धो स्नेहो वा नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम्।

(सु0चि0 40/21)

199. नासा हि शिरसो द्वारम्। (अ0हृ0सू0 20/1)

200. उर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।

नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्। (अ0हृ0सू0 20/1)

201. च0सू0 2/3-5, च0वि0 8/154.

202. सु0सू0 39/6.

203. अ0हृ0सू0 15/4.

204. 'नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च।

प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्त: कर्म तुं पंचधा।

वं तद्रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा। (च0सि0 9/89-92)

205. तद्द्विविधम्-शिरोविरेचनं, स्नेहनं च।

तद् द्विविधमपि पंचधा। (सु0चि0 40/21)

206. विरेचनं बृंहणं च त्रिधापि तत्। (अ0हृ0सू0 20/2)

207. बृंहणं कर्षणं चैव द्विविधं नस्य कर्मतु।

शोधनं पूरणं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते। (का0सि0अ0 2)

208. नस्य भेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहन तथा।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम्।। (शा0,उ0ख0 8/2)

209. प्रायोगिक स्नैहिक च द्विविधं नस्यमुच्यते। (भोज)

210. विषार्तादीनां संज्ञा प्रबोधकत्वेन रक्तपित्तादीनां स्तंभनत्वेन द्वैविध्यम्। (विदेह)

211. शिरोविरेचनं सप्तविधम, फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्यासत्वगाश्रयभेदात्।
(च0वि0 8/154)

212. च0सि0 2/20 21, सु0चि. 40/47, अ0हृ0सू0 20/11 13.

213. च0सि0 2/22.

214. अथ पुरूषाय वातातपरजोहितवेश्मनि। (सु0चि0 40/25)

215. सु0चि0 40/33-35, 38-41.

216. सु0चि0 40/49-50.

217. तद्धि शुद्धं हि रूधिरं वल वर्ण सुखायुषः। (च0सू0 24/4)

218. स्नेहादिभिः क्रियायोगैः न तथा लेपनैरपि।
यांत्याशु व्याधयः शान्ति यथा सम्यग् सिराव्यधात्। (सु0शा0 8/22)

219. प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थान् इच्छन्तमव्याहत पक्षवेगम्।
सुखन्वितं तुष्टिबलोपपन्नं विशुद्ध रक्तं पुरूषं वंदन्ति।। (च0सू0 24/2)

220. सिराव्यधश्चिकित्सार्द्ध शल्य तन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहतः सम्यग् वस्तिः कायचिकित्सिते।। (सु0शा0 8/22)

221. व्यभ्रे वर्षासु विध्येत्तु ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्तकालास्त्रयस्मृताः।। (सु0शा0 8/10)

222. आ0नि0 10.

223 बलिनो बहुदोषस्य वयस्थस्य शरीरिणाम्।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे।। (सु0शा0 8/16)

224. रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि।

225. सम्यग्गत्वा यदारक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।

शुद्धतया विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत्। (सु0सू0 14/32)

लाघवं वेदनाशान्तिः व्याधेर्वेग परिक्षयः।

सम्यग्विस्राविते लिगं प्रसादो मनसस्तथा।। (सु0सू0 14/33)

226. धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिनौलिकी त्राटकं तथा।

कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।। (घेरण्ड संहिता 1-12)

227. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। (च.सू. 1/15)

228. योगो मोक्षप्रवर्तकः। (च.शा. 1/136)

229. (क) शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरूचयते।। (च.सू. 1/41)

(ख) सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।

लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्व प्रतिष्ठितम्।।(च.सू. 1/45)

230. (क) जनमौषधिमंत्रतपः समाधिजाः सिद्धयः। (योःसू. 4)

(ख) त्रिविधमौषधमिति-दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च।

(च.सू. 11/52)

231. कायबालग्रहोर्ध्वाङ्ग.शल्यद्रंष्ट्राजरावृषान्। (वा.सू. 1/5)

232. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्ग.ानि। (यो.सू. 2/29)

233. योगारम्भे सततमनिर्वेद। (च.शा. 5/21)

234. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (यो.सू. 1/4)

235. (क) धीधैर्यात्मादिविज्ञानम् मनोद पौधं परम्। (च.सू. 1)

(ख) योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।। (च.शा. 1)

236. ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुपो तेदं प्रजापतिमजिग्रहत्।

सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन्।। (अ.हृ.सू. 1/4)

237. मैत्री कारुण्यमार्तेषु शंक्ये प्रीतिरूपेक्षणम्।

प्रकृतिस्थेषु भूतेषू वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा।। (च.सू. 9/26)

238. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्। भावनातश्चित्तप्रसादनम्।
(यो.सू. 1/33)

239. मैत्र्यादिषु बलानि। (यो.सू. 3/23)

240. यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (यो.सू. 2/29)

241. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। (यो.सू. 2/30)

242. (क) हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।
(ख) सम्भिन्नालापव्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्.मानसैस्त्यजेत्।। (वा.सू. 1/21-22)

243. सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।। (च.चि. 1/4/30)

244. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (यो.सू. 2/36)

245. सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।। (च.चि. 1/4/30)

246. नानृतं ब्रूयात्...........। (च.सू. 8/19)

247. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्। (यो.सू. 2/37)

248. त्रय उपस्तम्भाः-आहारनिद्राब्रह्मचर्यमिति। (चरक)

249. ब्रह्मचर्येण ज्वरात् प्रमुच्यते। (च.चि. 3)

250. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (यो.सू. 2/38)

251. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। (यो.सू. 2/39)

252. श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्।। (च.सू. 9/6)

253. लौल्यं क्लेशकराणां श्रेष्ठम्। (च.सू. 25/40)

254. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। (यो.सू. 2/42)

255. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः। (यो.सू. 2/43)

256. जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।। (च.चि. 1/4/31)

257. गायत्रीं त्रिपदां जपेत् तु। (सुश्रुत)

258. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो.सू. 2/44)

259. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो.सू. 2/45)

260. विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति।। (च.चि. 3/311)

261. सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्।। (च.चि. 3/310)

262. स्थिरसुखमासनम्। (यो.सू. 2/46)

263. समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः। (च.वि. 8/7)

264. देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत्।
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् नक्तं सेवेत न द्रुमम्।। (अ.हृ.सू. 2/36)

265. नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत........। (च.सू. 8/21)

266. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (यो.सू. 2/49)

267. वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानम्, वायुः आयुः, वायुः प्राणापानी, प्राणा रक्ष्यश्चतुर्भ्यो हि प्राणाञ्जहाति।

268. वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता, प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः। (च.सू. 12/8)

269. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (यो.सू. 2/54)

270. **इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। (च.शा. 1/21)**

271. तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभिः, तद्यथा- सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेन बुद्ध्या सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन देशकालात्मगुणविपरीतोपासनेन चेति। (च.सू. 8/16)

272. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (यो.सू. 3/1)

273. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (यो.सू. 3/2)

274. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो.सू. 3/3)

275. त्रयमेकत्र संयमः। (यो.सू. 3/4)

276. मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः। (च.सू. 1/58)

277. मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः।। (च.सू. 11/47)

278. धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्। (अ.हृ.सू. 1/26)

279. मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषो योगो मोक्षप्रवर्तकः। (च.शा. 1/137)

280. (क) आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे।। (च.शा. 1/138)

(ख) निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः।। (च.शा. 1/139)

(ग) योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृतिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः।। (च.शा. 1/137)

(घ) मोक्षे रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसङ्क्षयात्।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।। (च.शा. 1/142)

281. (क) 'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः' इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेय यावन्तो हि लोके (मूर्तिमन्तो) भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोकः। (च.शा. 5/3)

(ख) षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा- पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति एत एव षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते। (च.शा. 5/4)

282. सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सममनुपश्यतः सत्या बुद्धिः समुत्पद्यते। सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयो कर्ता नान्य इति। कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति। तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः। षड्धातुसतुदायो हि सामान्यवः सर्वलोकः। (च.शा. 5/7)

283. शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।
यथा भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः।।
सर्वभावस्वभावज्ञो यथा भवति निःस्पृह।
योगं यथा साधयते साङ्.ख्यः सम्पद्यते यया।।
यया नोपैत्यहंकारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्वते किच्चत् सर्व संन्यस्यते यया।।
याति ब्रह्म यया नित्यमजरः शान्तमक्षरम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता।।
लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।।
पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते।।
नात्मनः करणाभावाल्लिङ्ग.मप्युपलभ्यते।
स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते।। (च.शा. 5/16-22)

284. सर्वकारणवद् दुःखमत्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र योत्पद्यते स्वता।।
यावन्नोत्पद्यते सत्याबुद्धिर्नैतदहं यथा।
नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते।। (च.शा. 1/152-153)

285. निवृत्तिरपवर्गः, तत्परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः। (च.शा. 5/11)

286. विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते।। (च.शा. 5/23)

287. द्रष्टव्य- च.शा. 1/142-145 तथा च.शा. 5/21.

288. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृशिटः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्।।

इत्यष्टविधामाख्यातं योगिना बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते।। (च.शा. 1/140-141)

289. अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिश्रृणुयात् चन्द्रमसं राजते, चोपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति। (सु.चि. 29/13)

*****

उपसंहार

उपसंहार

योगदर्शन सिद्धान्ततः सत्व एवं चेतना के विज्ञान की वह विधा है जो तत्त्वानुभूति एवं दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति मार्ग के रूप में भारतीय दर्शन वाङ्ग.मय में अनादिकाल से उपस्थित रही है। यद्यपि आयुर्वेद प्रधानतः चिकित्साशास्त्र के रूप में जाना जाता है परन्तु इस शास्त्र के प्रथम सोपान पर ही स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा के डिमडिमनाद से जीवन के परम् लक्ष्य 'मोक्ष' की अट्टालिका के मूलाधार में अवस्थित अदृश्य शिला का अवस्थापन हो जाता है। यह जीवन पुरुषार्थ चतुष्टय की साधना का क्षेत्र है और आरोग्य मनुष्य जीवन में प्राप्तव्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का मूल है। इस प्रकार स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से योगदर्शन की गवेषणा से प्रथम तथ्य यह प्रकाशित होता है कि स्वास्थ्य की अमूर्त संकल्पना यहाँ पर पूर्व में ही सविस्तरशः प्राणवान रही है परन्तु स्थूलरूप में 'स्वास्थ्य' का शब्दशः अनावरण नहीं हुआ है। सम्भवतः इस योजना का लक्ष्य योग मार्ग में प्रवृत्त साधक को योगशास्त्र के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' पर ही संकेन्द्रित बने रहने तथा अन्य सांसारिक विभ्रान्तियों से बचाए रखना प्रतीत होता है। योग साधना में व्याधि को सर्वप्रधान विघ्न माना गया है। अतएव लौकिक व अलौकिक पुरुषार्थ के सम्पादन में समर्थ बने रहने के लिए आरोग्यवान्, आधि-व्याधि शून्य बने रहना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आयुर्वेद एवं योग दोनों शास्त्रों की दृष्टि 'सम' की अवस्था पर केन्द्रित प्रतीत होती है। शास्त्र द्वय की विषय वस्तु की विवेचना से यह सत्य उद्घाटित

होता है कि समत्व ही सृष्टि व्यवस्था का मूलाधार है। जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र 'स्वस्थ' पारिभाषित करते समय आत्मा, मन एवं इन्द्रियों की प्रसन्नता के अतिरिक्त शरीरस्थ दोष, अग्नि, धातु एवं मल की अभिक्रियाओं के समत्व की कसौटी का निर्धारण करता है ठीक उसी प्रकार योगशास्त्र में 'समत्वं योग उच्यते' कहा गया है।

विषमता से ही विकार की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म दृश्टि रखने वाले ऋषि एवं योगीगण केवल शारीरिक रोग एवं बाह्य वैषम्य पर ही नहीं, अपितु इनके उत्पादक सूक्ष्म शरीर के वैषम्य को भी दृष्टि में रखते थे तथा उस विषमता को भी उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर कर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार के स्वास्थ्य-लाभ का उपदेश देते रहे हैं। स्वास्थ्य के विकार कर्मदोष, दुर्वृत्त, प्रज्ञाविकार, रजोगुण एवं तमोगुण का प्रभाव, शरीरगत पंचभूतों में से किन्हीं का क्षय, श्वास प्रक्रिया में विपर्यय, वातादिदोषों की वृद्धि, अपथ्य भोजन आदि कारणों से होते हैं। आयुर्वेदिक दृष्टि से व्यक्ति या जनपद में रहने वाले व्याधि- दुःख का कारण प्रज्ञाविकार है। बुद्धि शरीर-सत्ता की संचालिक है। बुद्धि में लाभ, मोह, क्रोध अभिमान आदि की उत्पत्ति होने से व्यक्ति अधर्माचरण करने लगता है। अतः उस अधर्माचरण के फलस्वरूप नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती है, जिनसे सभी व्यक्ति दुःखी होते हैं। व्यक्तिगत अधर्माचरण का फल व्यक्ति को व्याधिकों के रूप में मिलता है एवं संमूहरूप में किये गये अधर्म का फल जाति, समुदाय, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्व को व्यापक व्याधियों एवं अन्य उपद्रवों के रूप में मिलता है। मनुष्य मन्द, मध्य, तीव्र मात्रा में जैसी भावना से जिन-जिन अंगों से दुष्टाचरण करता है या करवाता है, उसी मात्रा में उसी भावना के अनुकूल उन-उन अंगों में उसे दुःखों की प्राप्ति होती है, यह दुःख इस जन्म में अनुष्ठित या पूर्वजन्म

में कृत दोनों प्रकार के कर्मो के फल के रूप में प्राप्त होता है। मनु ने दुराचार को सतत् व्याधि, अन्धत्व, वधिरत्व, विकृत आकृति आदि को कर्म विशेष का दुष्परिणाम कहा है। उनका यह भी कहना है कि असत्यवादी, हिंसा, प्रेमी एवं निन्दित कर्म का आचरण करने वाले अधार्मिक जन कभी सुखी नहीं रहते। स्वाध्याय का परित्याग कर ज्ञानानुकूल आचरण न करने से, सदाचार का त्याग करने से, आलस्य एवं प्रमादयुक्त रहने से तथा अन्न दोष के कारण मृत्यु प्राणियों का संहार करती है।

अतएव सुखी एवं स्वस्थ रहने के लिए यह आवश्यक है कि बुद्धि को दोषों के मूलकारण लोभ, मोह, क्रोध से रहित बनाया जाय। शास्त्राभ्यास, गायत्रीजप एवं ब्रह्म -ध्यान के द्वारा बुद्धि को निर्मल, पवित्र एवं ज्ञान युक्त बनाया जाय। बुद्धि के पवित्र एवं सत्य ज्ञान युकत होने पर आचरण भी ज्ञानानुकूल, उत्तम, शास्त्रानुमोदित एवं पवित्र ही होगा। कर्म को ही दुःख का हेतु जानकर धर्मशास्त्रों में सदाचार एवं दुराचार की उत्तम कर्म एवं निन्दित कर्म की विस्तारपूर्वक विवेचना की गयी है तथा सुख प्राप्ति हेतु सदैव शास्त्र विहित मंगल कर्मो को ही अनुष्ठित करने का उपदेश दिया गया है। मनुष्यों को तीव्र दुःख देने वाले निन्दित कर्मो का स्पष्ट ज्ञान हो, पाप कर्म करने वालों के संसर्ग से भी बचने का उपदेश दिया गया है। यदि कभी प्रमाद से निन्दित आचरण हो भी जाय तो उसके प्रभाव से मुक्त होने के लिये तथा उक्त पाप कर्म जनित संस्कारों को दूर करने के लिए तत्काल प्रायश्चित कर्म करने का विधान किया गया है।

अतः व्याधि आदि के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि आसक्ति एवं फलाकांक्षा का त्यागकर सदैव शास्त्रविहित कर्म किये जाय। योगियों

के कर्म सदैव शुभाशुभ की वासना, फल की कामना एवं आसक्ति से रहित होते हैं, अतएव वे कर्माशय से रहित होने के कारण भविष्य में सुख-दुःख रूप फल को उत्पन्न नहीं करते। पातंजल योगसूत्र में योगियों के कर्म को अशुक्ल-अकृष्ण कहा गया है। इसके साथ ही शास्त्रभ्यास, सत्संग, श्रवण एवं मनन के द्वारा सम्यग्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए, जिससे संसार में पाप-कर्म के फलस्वरूप नाना प्रकार के रोगों एवं दुःखों से पीड़ित प्राणियों को दुःखकर पाप-कर्म की चेष्टा एवं वासना से विरक्त रखा जा सके।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर व्याधि एवं दुःखों का कारण रजोगुण एवं तमोगुण है। सत्त्वगुण का स्वभाव ज्ञान, प्रकाश, लघुता एवं आमय (रोग) रहित होता है। अतः योगी सत्वगुण से स्थित होकर ही व्याधि एवं अन्य त्रिविध तापों तथा योगविघ्नों पर विजय प्राप्त करता है। तमो गुण का दमन रजोगुणात्मक ध्यान से एवं रजोगुण का शमन सत्त्वागुणात्मक ध्यान से होता है।

वराहोपनिषद् ने पंचभूतों की दृष्टि से जीवन का वर्णन किया है तथा देह-क्षय का निवारण करने के लिए 'भूतधारणा' की विधि का उपदेश दिया है इस उपनिषद का कहना है कि इस पंच भौतिक शरीर में काठिन्य पृथ्वी का, द्रवत्व जल का, तेज एवं दीपन अग्नि का, गति एवं प्रसार वायु का और सत्त्व आकाश का गुण है। पृथ्वी तत्त्व के क्षीण होने पर शरीर के मांस आदि कठिन अंश क्षीण हो जाते है एवं शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। जल तत्त्व क्षीण होने पर शुष्कता आती है एवं केश सफेद हो जाते हैं। अग्नि तत्त्व के क्षीण होने पर क्षुधा और कान्ति का नाश हो जाता है। वायु तत्त्व के क्षीण होने पर शरीर में वेपथु (कम्पन) होता है तथा आकाश-तत्त्व के क्षीण होने पर मृत्यु हो जाती है। भूत-धारणा का

अभ्यास करने पर प्रत्येक भूत के सूक्ष्म अंश शरीर में निवास करते हैं, जिससे शरीर सदैव स्वस्थ वलीपलित रहित तथा तेज, शक्ति, पुष्टि, कान्ति एवं सत्त्व से युक्त रहता है। पंचभूतों की धारणा सभी प्राचीन योग विधियों का आवश्यक अंग थी।

योग की भाषा में मनुष्य एक लघु ब्रह्माण्ड है। इस विश्व के स्रष्टा एवं नियन्ता ईश्वर स्वयं इस पिण्डरूप लघु ब्रह्माण्ड के हृदय में अन्तर्यामी-रूप से अवस्थित होकर इसे नियंत्रित कर रहे हैं। शरीर के विभिन्न अंगों में तथा मन, प्राण एवं इन्द्रियों में भी तत्त्वत् स्थानों एवं उनकी शक्तियों के स्वामी देवगण उन-उन स्थानों में निवास करते हुए सतत् अप्रमत्त रहकर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। अतएवं स्वस्थ एवं सुखी रहने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सृष्टि में सभी के साथ आत्मभाव स्थापित करे तथा परब्रह्म एवं देवों की विशेषरूप से आराधना करे। इसके लिए उसे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ- इन पाँच महायज्ञों का नित्य अनुष्ठान करना चाहिए। मनु का कथन है कि जो लोग मंगलाचार से युकत हैं, जिनका चित्त, बुद्धि और आचार शुद्ध एवं पवित्र हैं, जो नित्य ओंकार या महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री आदि मंत्रों का जप करने वाले हैं तथा नित्य होमकर्म द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने वाले हैं, उन्हें कभी कोई रोग, विपत्ति आदि विघ्न नहीं होते।

इस सन्दर्भ में आयुर्वेदोक्त लोक-पुरुष साम्य की अवधारणा महत्वपूर्ण है। व्यष्टि-समष्टि या लोक-पुरुष या पिण्ड-ब्रह्माण्ड का सारूप्य तथा उनकी अन्तः कार्मिकता ही स्वास्थ्य की नियामक है। जीव मनुष्य (पुरुष) तथा लोक-ब्रह्माण्ड दोनों ही षड्धात्वात्मक तथा पाञ्चभौतिक है, और एक-दूसरे को प्रभावित करते है।

आधुनिक मतानुसार भी मनुष्य और उसके पर्यावरण का आपस में सामंजस्य आवश्यक है इस सामंजस्य के ह्रास से ही स्वास्थ्य की हानि तथा नानाविध रोगों की उत्पत्ति होती है। ऐसी मान्यता है कि योग लोक-पुरुष साम्य को बनाये रखने में सहायक होता है, इसीलिए योगविज्ञान को स्वास्थ्य उन्नयनक विज्ञान के रूप में विकसित करने का अभियान चल रहा है।

इस प्रकार आयुर्वेद एवं योग परस्पर अवगुण्ठित वह दो उपयोगी विद्याएं हैं जो क्रमशः इस शरीर साधन की आरोग्यता एवं आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में एक दूसरे की अनुपूरक है। अब चूँकि योग एवं आयुर्वेद दोनों ही स्वस्थ शरीर की अपेक्षा रखते है। अतः यहाँ पर अन्योन्याश्रयी भाव भी उपस्थित हो जाता है।

*****

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. चरक संहिता (बारहवाँ संस्करण- 1984), श्री सत्यनारायण शास्त्री, पद्मभूषण, चौखम्भा ओरियन्टल, वाराणसी।

2. चरक संहिता (प्रथम संस्करण- 1983), डॉ0 ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्भा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

3. सुश्रुत संहिता (अष्टम संस्करण- 1981), डॉ0 आम्बिकादत्त शास्त्री, चौखम्भा, संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

4. सुश्रुत संहिता (द्वितीय संस्करण- 1985), श्री शम्भूनाथ पाण्डेय, कृष्णदास अकादमी।

5. स्वस्थ्यवृत्त समुच्चय (दशम संस्करण- 1979) वैद्य राजेश्वर दत्त शास्त्री, चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी।

6. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन (प्रथम संस्करण- 1988), डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्व भारती अनुसंधान परिषद, वाराणसी।

7. ऋग्वेद संहिता (पुनर्मुद्रित संस्करण- 1992), पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्भा, संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी।

8. छान्दोग्योपनिषद् (प्रथम संस्करण- 1983), महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज, टीकाकार- डॉ0 उमेशानन्द शास्त्री, श्री कैलाश आश्रम शताब्दी समारोह, महासमिति, ऋषिकेश।

9. पातञ्जल योगदर्शन (व्यास एवं भोज वृत्ति सहित), स्वामी विज्ञानाश्रम द्वारा भाषानुवाद, फाईन आर्टस प्रिटिंग प्रेस, अजमेर।

10. पातञ्जल योगदर्शन (द्वितीय संस्करण- 1988), व्यास भाष्य संवलित, डॉ0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

11. भारतीय दर्शन (प्रथम संस्करण- 1958), सतीश चन्द्र चटर्जी एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, पुस्तक भण्डार, पटना।

12. मनुस्मृति, आचार्य जगदीश लाल शास्त्री, मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी।

13. याज्ञवल्क्य स्मृति (प्रथम संस्करण- 1967), विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा, चौखम्भा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

14. शतपथ ब्राह्म (मूल संस्करण- 1988), (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय), पं0 गंगा प्रसाद उपाध्याय, गोविन्द हासानन्द, दिल्ली।

15. श्रीमद्भागवत् गीता (त्रयोदश संस्करण- 1975) शंकरभाष्य हिन्दी अनुवादसहित हरिकृष्णदास गोयन्दका गीताप्रेस, गोरखपुर।

16. सिद्धयोग वाणी (तृतीय संस्करण- 1983) लेखक स्वामीशंकर पुरूषोत्तम तीर्थ जी महाराज अनुवादक रामबहादुर पंडया, वैजनाथ सिद्धयोगाश्रम, छोटी गैवी, वाराणसी।

17. पातञ्जल योगशास्त्र: एक अध्ययन, 1978 डॉ0 ब्रह्ममित्र अवस्थी इन्दू प्रकाशन, दिल्ली।

18. राजयोग साधना और सिद्धान्त, डॉ0 ब्रह्म मित्र अवस्थी इन्दू प्रकाशन, दिल्ली।

19. पातञ्जल योग पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, डॉ0 ब्रह्म मित्र अवस्थी इन्दू प्रकाशन, दिल्ली।

20. श्रीमद्भगवत् गीता: हिन्दू विश्वविद्यालय, डॉ0 वी0 एस0 अवस्थी संस्कृत पब्लिकेशन बोर्ड, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

21. ए मैनुअल आफ साइन्स एण्ड फिलॉसोफी ऑफ योग, 1978, डॉ0 के0एन0 उडुप्पा, प्रकाश सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, बुलानाला, वाराणसी।

22. योग का तात्विक और वैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० के०एन० उडुप्पा, संग्रहानुवाद टी०वी० अन्नपूर्णम्मा, प्रकाशन सर्वोदय साहित्य प्रकाशन, बुलानाला, वाराणसी।

23. योग फॉर कण्ट्रोल ऑफ माइन्ड इन हेल्थ एण्ड डीजिज, डॉ० के०एन० उडुप्पा एण्ड आर०डी० शर्मा, इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्स, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी-5, 1975।

24. शिव संहिता: संस्कृत संस्थान, 1975, डॉ० चमन लाल गौतम, ख्वाजाकुतुब, देवनगर, बरेली।

25. घेरण्ड संहिता: संस्कृत संस्थान, 1975, डॉ० चमन लाल गौतम, ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली।

26. पातज्जल योग दर्शन, 2035, हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।

27. आष्टांग योग (सन्त चरणदासकृत), 1983, ओम् प्रकाश तिवारी, कैवल्यधाम, लोनावाला, पूना।

28. भारतीय दर्शन एवं आयुर्वेद में सद्वृत्त, 1983, राकेश कुमार पाण्डेय, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, मौलिक सिद्धान्त विभाग और दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

29. समग्र योग, 1985, रेवती रमण पाण्डेय, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी।

30. यौगिक चिकित्सा विज्ञान, 1991, शीतला प्रसाद मौर्य, अन्तर्राष्ट्रीय योग प्रकाशन, वाराणसी।

31. योग परम्परा और आयुर्वेद, 1993, डॉ० अच्छेलाल यादव, कला प्रकाशन, वाराणसी।

32. योगासनास, प्राणायाम, मुद्रा-क्रिया: ए विवेकानन्द केन्द्र, 1977, विवेकानन्द केन्द्र, पब्लिकेशन, 36 सिगराचारी स्टेट, त्रिप्लीकेन, मद्रास-5।

33. कुण्डलिनी योग दी डीवाइन लाइफ सोसाइटी, श्री स्वामी शिवानन्द, टेहरी गढ़वाल।

34. योग प्रतिष्टान का चतुर्थ पुण्यः योग मिमांशा-मुद्रणालय, कुवल्यानन्द श्रीमत्स्वामी, कैवल्यधाम, लोनावाला, पूना।

35. हठप्रदीपिका, 1980, स्वामी दिगम्बर जी और झा, डॉ0 पीताम्बर, स्वात्माराम कृत, हिन्दी संस्करण, कैवल्यधाम, श्री मन्माधव योग मन्दिर समीति, लोनावाला, पूना।

36. स्वस्थवृत्त विज्ञान, 1993, डॉ0 रामहर्ष सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 38 यू0 ए0, जवाहरनगर, बंगलो रोड, दिल्ली।

37. भारतीय दर्शन (प्रथम संस्करण), 1990, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

38. योग का वैज्ञानिक रहस्य एवं यौगिक चिकित्सा, 1985, श्री रमणदास महात्यागी 'योगाचार्य', चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी।

39. पातंजलयोगप्रदीप, सं0 2016, श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर।

40. श्री पातंजलयोग दर्शन, 1987, टीकाकार- पं0 मनोहर लाल शर्मा, श्रीकृष्ण कम्पनी, कलकत्ता।

41. योग दर्शन, श्रीहरि कृष्णदास गोयन्दका।

42. हठयोग, 1985, सुरेन्द्र कुमार शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली।

43. प्राणायाम, 1985, बी0के0एस0 आयंगार, ओरियंट लांग मैन लिमिटेड, नई दिल्ली।

44. योगः सिद्धान्त एवं साधना, 1986, पं0 हरिकृष्ण शास्त्री, दातार।

45. पातंजलयोग दर्शनम्, 1953, श्रीमत स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

46. पातंजलयोग सूत्र, 1979, डॉ0 पवन कुमारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।

47. पातंजलयोग दर्शन, 1985, डॉ0 रमाशंकर त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।

48. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1963, श्री रामाशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या वाराणसी।

49. भारतीय दर्शन में योग, 1983, डॉ0 मंगला, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

50. योगसाधना की तैयारी, 1951, श्रीपाद दामोदर, भारत मुद्रणालय सूरत।

51. भक्तियोग रस्य, 1949, स्वामी रामतीर्थ प्रतिष्ठान लखनऊ।

52. पातञ्जलयोगदर्शन, 1960, मिश्री लाल, हैमेन्द्र कुमार साधन कार्यालय, मथुरा।

53. भारतीय संस्कृति और साधना, 1963, गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना।

54. अष्टांग संग्रह (प्रथम संस्करण)-1985, डॉ0 रविदत्त त्रिपाठी, ज्ञान भारतीय प्रकाशन, लखनऊ।

55. अष्टांग हृदय (प्रथम संस्करण)-1982, आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा ओरियन्टल।

56. अष्टांग हृदय (प्रथम संस्करण)-1950, अत्रिदेव गुप्त, टीकाकार, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

57. भाव प्रकाश (पंचम संस्करण)-1980, (प्रथम व द्वितीय भाग) ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्भा विश्व भारती, वाराणसी।

58. भाव प्रकाश (तृतीय संस्करण) 1986 (प्रथम व द्वितीय भाग), पं0 लालचन्द्र जी वैद्य, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

59. योगतत्त्वाङ्क, वि0सं0 2048, कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

60. अध्यात्म योग और चित्तविकल, 1956, वेंकटेश्वर शर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना।

61. ज्ञानयोग तत्व, वि0सं0 2017, जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।

62. योगरहस्य, 1959, नारायण स्वामी, सार्वदार्शिक आर्य प्रतिनिधि सभा।

63. हठप्रदीपिका, 1980, स्वामी दिगम्बर जी तथा डॉ0 पीताम्बर झा, कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग मन्दिर समिति, पूना।

64. The Foundation of Contemporary Yoga, 1991, Dr. R.H. Singh, Chaukamba Sanskrit Pratishthan, Delhi.

65. Yoga and Ayurveda, 1989, Dr. Satyendra Prasad Mishra, Chaukhambha Sanskrit Sansthan , Varanasi.

66. Yoga the and steps to Health and Peace, 1976, Richard L. Hittleman, Thorsons Publishers Ltd., London.

67. Be young with yoga, 1962, Richard L. Hittleman, Thorsons Publishers Ltd., London.

68. Science studies yoga: A review of physiological data Himalayan International Institute of yoga Sc. and Philosophy, 1977

69. Stress and its Management by yoga, R.C. Prasad, Delhi 1996.

70. Philosophy of hatha yoga, Himalayan Publications, 1985.

71. सांख्य दर्शन और आयुर्वेद, प्र0सं0- 1986, डॉ0 ऊषा कुशवाहा, प्रकाशक-त्रिविध प्रकाशन, बी017/86 तिलभाण्डेश्वर, वाराणसी।

72. बौद्ध धर्म-दर्शन, प्र0सं0, वि0सं0 2013, सन् 1956 ई0, आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रकाशक- बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, सम्मेलन-भवन, पटना-3.

73. जैन दर्शन- डॉ0 मोहन लाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1959.

74. जैनधर्म में अहिंसा- डॉ0 वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्रकाशक, सोहन लाल धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1972.

75. जैन न्यास- पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, वाराणसी, 1961.

76. जैन, बौद्ध और गीता का समाजदर्शन- डॉ0 सागरमल जैन, प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर, 1982.

77. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग- डॉ0 सागरमल जैन, प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर, 1982.

78. बौद्धदर्शन- बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, गणेश दीक्षित, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1946.

79. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन- भरत सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, वि0सं0 2011.

80. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास- डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1976.

81. बौद्धधर्म दर्शन- डॉ0 नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, प्रथम संस्करण, 1956, वि0 2013.



*****